अनन्त–परम सत्य का समग्र उल्लेख तथा उपलब्धि
संभव नहीं ॐ धार्मिक ग्रन्थ तथा विज्ञान से भी ? !

किन्तु सम्भव है सत्य–समता–शान्ति की साधना से

आचार्यश्री कनकनन्दी जी गुरुदेव

आचार्य श्री कनकनन्दीजी के साहित्यों का विमोचन करते हुए संघस्थ आचार्य श्री गुप्तिनंदीजी ससंघ (स्वतंत्रता दिवस कार्यक्रम 2008,बाराबंकी, उ.प्र)।

आचार्य श्री कनकनन्दीजी से प्रशिक्षण एवं आशीर्वाद से द्वितीय बार अमेरीका में धर्म प्रचारार्थ गये डॉ. कच्छारा जी आचार्य चन्दनाजी द्वारा निर्माणाधीन मन्दिर की झाकियों के पास।

अनन्त–परम सत्य का समग्र उल्लेख तथा उपलब्धि भी संभव नहीं है धार्मिक ग्रन्थ तथा विज्ञान से भी ?!

(किन्तु सम्भव है सत्य–समता–शान्ति की साधना से)

मेरा चार–आयाम सिद्धान्त
भगवान् है मेरा परम–सत्य स्वरूप
सिद्धान्त है स्याद्वाद–अनेकान्त रूप।
सतत साधना है मेरी स्वस्थ–समता
उपलब्धि हो मेरी परम–शान्ति रूपा।
आचार्य कनकनन्दी

www. jainworld.com (अमेरिका) में 147 देशों में आचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव के साहित्य उपलब्ध है।

ई–मेल:**Shrikanaknandhiji@yahoo.com.**

मुद्रण : सीमा प्रिन्टर्स, उदयपुर, मो. 9829582041

प्रकाशक
धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान (बडौत)
धर्म दर्शन सेवा संस्थान (उदयपुर)
शाखा–सागवाड़ा

लेखक – धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव

अनन्त–परम सत्य का समग्र उल्लेख तथा उपलब्धि संभव नहीं है धार्मिक ग्रन्थ तथा विज्ञान से भी ?!

(किन्तु सम्भव है सत्य–समता–शान्ति की साधना से)

लेखक – धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव

ग्रंथांक–177,
प्रथम संस्करण–2008, प्रतियाँ–1000
मूल्य–101 रुपये (पुनः प्रकाशनार्थ)
मुद्रक : सीमा प्रिन्टर्स, 9829556433
मुद्रांकन :– *मुनि तीर्थ नन्दी जी*

-: द्रव्य दाता :-

(1) स्व. श्री धनराजसेठ की धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पा, श्रीमती शिल्पा धर्मपत्नी भरत कुमार सेठ, श्रीमती टीना धर्मपत्नी मणीभद्र सेठ (चीतरी),
(2) मेहता कान्ति लाल जी s/o खेमराज जी (पाडवा)
(3) पगारिया राजेन्द्र प्रसाद जी s/o दीप चन्द जी (पाडवा)
(4) बामनीया यशवन्त जी s/o रतनलाल जी (पाडवा)
(5) काला देवी w/o रोशन जी दगार (पाडवा)
(6) शाह वस्तुपाल जी s/o माणक लाल जी (पाडवा)
(7) फलोजिया चम्पा देवी w/o पूंजी लाल जी (पाडवा)
(8) प.पू. मुनि श्री समाधिनंदी जी की पुण्य स्मृति में श्रीमती शोभा जैन, संतोष, सतीश जैन, नागपुर

प्राप्ति स्थान : –
धर्म दर्शन सेवा संस्थान, द्वारा– छोटू लाल चितौडा,
चंद्र प्रभ दि. जैन मंदिर आयड,
आयड बस–स्टॉप के पास उदयपुर– 313001(राज.)
फोन नं.– (0294) 2413565. 6941114, Mo.–9887370057
सम्पर्क सूत्र
डॉ नारायण लाल कच्छारा (सचिव) 55,रवीन्द्रनगर उदयपुर 313001
(राज.) फोन (0294) 2491422 मो.9214460622
ई–मेल: nlkachhara@yahoo.com.

पुण्य-स्मरणार्थ

विनम्र गुरुभक्त दान श्री स्व. धनराज जी (चीतरी)

आप श्री विनम्र, सरल–सहज, सदाचारी, निर्व्यसनी, निराभिमानी, शान्त, गम्भीर, हित–मित–प्रियवादी, देव–शास्त्र–गुरुभक्त, दानवीर, परोपकारी, गरीब–असहाय के उपकारी, गुप्तदानी, अध्ययनशील, संस्कार दाता, ज्ञानदानी थे। आप श्री हमारे संस्थान के आजीवन सदस्य रहे एवं संस्थान के लिए विभिन्न सहयोग देते रहे।

आचार्य श्री कनकनन्दी जीगुरुदेव

उपर्युक्त महान् उदार–उदात्त गुणों के कारण हम सब आप को मरणोपरान्त "**विनम्र गुरुभक्त दान श्री**" उपाधि प्रदान करके हम गौरवान्वित हो रहे हैं तथा दूसरे भी आप के गुणों का अनुकरण करें ऐसी भावना भाते हैं। आपके सुपुत्र भरत और मणिभद्र भी आप के गुणों से युक्त हैं तथा और भी उत्तरोत्तर आपके गुणों का अनुकरण करके आपकी कीर्ति को दशों दिशा में फैलाकर स्व–पर–विश्व विश्वकल्याण में योगदान दें ऐसी शुभकामनाओं के साथ.....

स्वर्गीय सेठ श्री धनराज जी

(1) धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान (बड़ौत)
(2) धर्म दर्शन सेवा संस्थान (उदयपुर)

आचार्य श्री कनकनन्दी जी द्वारा आशीर्वाद प्राप्त

शाखायें–(बड़ौत, मुजफ्फरनंगर, कोटा, उदयपुर, सलूम्बर, प्रतापगढ़, मुंबई, अमेरिका, सागवाड़ा, गाजियाबाद)

श्रद्धावन्त :– श्रीमती पुष्पा (धर्मपत्नी स्व. श्री धनराज जी), श्रीमती शिल्पा धर्मपत्नी भरत कुमार सेठ, श्रीमती टीना धर्मपत्नी मणीभद्र सेठ, (पुत्र वधु एवं सुपुत्र), श्रीमती हेमलता धर्मपत्नी महिपाल शाह, श्रीमती दीपिका धर्मपत्नी नगीन लाल, श्रीमती अनिता धर्मपत्नी हितेश जी, श्रीमती तृप्ति धर्मपत्नी अनिल जी, हुकमीचन्द, तथा सकल दि. जैन समाज चीतरी।

विषय-सूची

अनुच्छेद		पृष्ठ संख्या
1.	पुस्तक का सार संक्षिप्त, प्राक्–कथन	5–22
2.	आचरण / प्रयोग के बिना लौकिक या धार्मिक ज्ञान अहितकारी	23–26
3.	अनन्त–परम सत्य का समग्र उल्लेख तथा उपलब्धि संभव नहीं है धार्मिक ग्रन्थ तथा विज्ञान से भी ?!	27–31
4.	केवल धार्मिक ग्रन्थों से परम सत्य की उपलब्धि असंभव–	32–35
5.	परम सत्य की उपलब्धि के परमोपाय	36–39
6.	निश्चय से आत्मज्ञ ही श्रुतकेवली न कि द्रव्यश्रुतज्ञान से	40–45
7.	ज्ञानी एवं ज्ञान कथंचित् अभेद है	46–49
8.	स्वाध्याय के स्वरूप एवं शास्त्राध्ययन का फल	50–56
9.	आगमानुसार आचरण करने वाला मुनि श्रेष्ठ है	57–61
10.	विभिन्न जीव के विभिन्न चक्षु	62–64
11.	केवल शास्त्रों से नहीं होती है आत्मोपलब्धि	65–78
12.	प्रायः संसार यथार्थ ज्ञान से रहित क्यों ?	79–92
13.	लौकिक एवं धार्मिक शिक्षा / ज्ञान में समुचित विकास के नियम	93–99
14.	यथार्थ ज्ञान एवं उसकी उपलब्धि	100–104
15.	पवित्र कर्त्तव्यों के लिए धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन	105–106
16.	आगमज्ञान तत्त्वश्रद्धान सहित संयम से मोक्ष–(परम स्वतंत्रता)	107–109
17.	भारतीय क्यों अनजान है स्व–प्राचीन ज्ञान–विज्ञान.....	110–114
18.	आधुनिक साक्षर मूढ़	115–119
19.	विज्ञान में भी है अज्ञानता एवं संकीर्णता	120–125
20.	साक्षर मूढ़ एवं शिक्षित (शास्त्रज्ञ)	126–133
21.	कथंचित् बाह्य लौकिक या धार्मिक शिक्षा तथा संस्कार	134–140
22.	विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास के लिए छुट्टियों का उपयोग	141–152

प्रस्तुत कृति का सार संक्षिप्त

आचार्य कनकनंदी

1. परमसत्य स्वयं प्रत्येक जीव का शुद्ध चैतन्य स्वरूप भी है जो कि "सत्यं शिवं सुन्दरम्" "सच्चिदानंद" रूप है।
2. भावशुद्ध (सत्यनिष्ठा–समता) बिना वाचनिक–व्यावहारिक लिखितसत्य भी यथार्थ से सत्य नहीं है।
3. परमसत्य अनन्तशक्ति सम्पन्न एवं शाश्वतिक होने से वह कभी भी परास्त नहीं होता है, नष्ट नहीं होता है न ही बनाया जा सकता है।
4. जो असत्य है वह न धर्म है, न नीति है, न न्याय है, न ही विज्ञान है।
5. परमसत्य इन्द्रिय, मन, वाणी, यंत्र, विज्ञान, कानून, शिक्षा–विज्ञान से परे, परमशुद्ध भाव से एवं अनन्तज्ञान से अनुभवगम्य है।
6. जो सम्पूर्ण पंथ–मत–ग्रन्थ–परम्परा–देश की संकीर्णता तथा मिथ्या–मोह–तृष्णा–आसक्ति–राग–द्वेष–ईर्ष्या–पक्षपात–वाद–विवाद–हठाग्रह–पूर्वाग्रह–कामना से परे होकर साम्यभाव रखता है उसका भाव शुद्ध होता है और वह ही परमसत्य को प्राप्त कर सकता है।
7. प्रत्येक चेतन–अचेतन, मूर्तिक–अमूर्तिक द्रव्य (संख्या की अपेक्षा अक्षय अनन्तानन्त) जब स्व शुद्ध अवस्था में परिणमन करते हैं तब तक वे स्व–स्व की अपेक्षा परमसत्य स्वरूप होते हैं। इस अवस्था में कोई भी द्रव्य (सत्य) इन्द्रिय या यंत्र से जाना नहीं जा सकता है। जो कुछ इन्द्रिय या यंत्र से जाना जाता है वे सब अशुद्ध द्रव्य (सापेक्ष–सत्य, अशुद्ध अवस्था, व्यवहारसत्य) है।
8. आध्यात्मिक दृष्टि से जीवों के शरीर, इन्द्रियाँ, मन, रोग–द्वेष–मोह–आसक्ति, इच्छा–ईर्ष्या–कामनादि, जन्म–मरण, सांसारिक सुख–दुःख, धनी–गरीब, उँच–नीच, भेद–भाव, अपना–पराया, स्वधर्मी–अन्यधर्मी, स्वदेशी–परदेशी, शिक्षित–अशिक्षित, भोजन– वस्त्र–सम्पत्ति, ख्याति–पूजा–प्रसिद्धि, हवा–पानी, सूर्य–किरण, शब्द, विद्युत्, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र आदि असत्य–मिथ्या या अशुद्धावस्था अथवा सापेक्ष सत्य (व्यवहार सत्य) है।

स्वाध्यायाद्योगमासीत्, योगात्स्वाध्यायमासते।
स्वाध्याययोग–सम्पत्त्या, परमात्मा प्रकाशते।।

(28 व्यास भाष्ययोगदर्शन / समाधिवाद)

आत्मनिरीक्षण और सद्ग्रन्थों के पठन से योग–ध्यान में प्रवृत्ति होती है तथा योग से आत्मनिरीक्षण और सद्ग्रन्थ पढने की प्रवृत्ति बनती है। स्वाध्याय तथा योग दोनों का जब मेल हो जाता है, तो उसके परिणामस्वरूप आनन्दरूप परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं।

प्राक्-कथन

पोथी पढ–पढ जग मुँआ
ढाई आखर आत्मा का पढे सो पंडित होय

आचार्य श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिं परेशां परपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरितमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।

अपवित्र विचार वाला दुर्जन विद्या को प्राप्त कर के वाद–विवाद–कलह कराता है। पवित्र विचार वाला सज्जन इससे विपरीत विद्या से स्वपर के अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करके ज्ञान रूपी प्रकाश को प्रसारित करता है, दुर्जन धन को प्राप्त करके भोग– राग, दिखावा, अहंकार में मस्त हो जाता है, शक्ति को प्राप्त करके दूसरों को सताता है। परन्तु सज्जन धन प्राप्त करके योग्य क्षेत्र में योग्य व्यक्ति को दान देता है तथा शक्ति से दूसरों की रक्षा करता है। तथा च–

बुद्धे फलं तत्त्व विचारणं च देहस्य सारं व्रतधारणं च ।
अर्थस्य सारं किल पात्रदानं, वचः फलं प्रीतिकर नराणां।।

बुद्धि का फल तत्त्व चिन्तन, देह का सार व्रतों का धारण, धन का सार सुपात्र में दान, वचन का फल मनुष्य को प्रीतिकर होना है।

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो ।
यदीच्छसि फलं तयोरहि हि लाभपूजादिकम्॥
छिन्नसि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः ।
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ॥ 189 -आत्मानुशासन

समस्त आगम का अभ्यास और चिरकाल तक घोर तपश्चरण करके यदि उन दोनों का फल तू यहाँ सम्पत्ति आदि का लाभ और प्रतिष्ठा आदि चाहता है तो समझना चाहिए कि तू विवेकहीन होकर उस उत्कृष्ट तपरूप वृक्ष के फूल को ही नष्ट करता है। फिर ऐसी अवस्था में तू उसके सुंदर व सुस्वादु पके हुए रसीले फल को कैसे प्राप्त कर सकेगा? नहीं कर सकेगा। जिस प्रकार कोई मनुष्य वृक्ष को लगाता है, जल सिंचन आदि से उसे बढाता है, और आपत्तियों से उसका रक्षण भी करता है, परंतु समयानुसार जब उसमें फूल आते हैं तब वह उन्हें तोड लेता है और इसी में संतोष का अनुभव करता है। इस प्रकार से वह मनुष्य भविष्य में आने वाले उसके फलों से वंचित ही रहता है। कारण यह है कि फलों की उत्पत्ति के कारण तो वे फूल ही थे जिन्हें कि उसने तोडकर नष्ट कर दिया है। ठीक इसी प्रकार से जो प्राणी आगम का अभ्यास करता है और घोर तपश्चरण भी करता है परंतु यदि वह उसके फलस्वरूप प्राप्त हुई ऋद्धियों एवं पूजा प्रतिष्ठा आदि में ही सन्तुष्ट हो जाता है तो उसको उस तप का जो यथार्थ फल स्वर्ग मोक्ष का लाभ था वह कदापि नहीं प्राप्त हो सकता है। अतएव तपरूप वृक्ष के रक्षण एवं संवर्द्धन का परिश्रम उसका व्यर्थ हो जाता है। अभिप्राय यह हुआ कि यदि तप से ऋद्धि आदि की प्राप्ति रूप लौकिक लाभ होता है तो इससे साधु को न तो उसमें अनुरक्त होना चाहिए और न किसी प्रकार का अभिमान ही करना चाहिए। इस प्रकार से उसे उसके वास्तविक फल स्वरूप उत्तम मोक्ष सुख की प्राप्ति अवश्य होगी।

प्रसिद्धि रूपी रोग दूर करने केउपाय

तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिह लोक पंक्ति विना
शरीरमपी शोषय प्रथितकाय संक्लेशनैः ।
कषायविषयद्विषो विजय से यथा दुर्जयान्
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपः शास्त्रयोः ॥ 190 -आत्मानुशासन

लोकेष्णा/प्रसिद्धि बिना अर्थात् प्रतिष्ठा आदि की अपेक्षा न करके निष्कपटरूप से यहाँ इस प्रकार से निरन्तर शास्त्र का अध्ययन कर तथा प्रसिद्ध कायक्लेशादि तपों के द्वारा शरीर को भी इस प्रकार से सुखा कि जिससे तू दुर्जय कषाय एवं विषय रूप शत्रुओं को जीत सके। कारण कि मुनिजन राग द्वेषादि की शांति को ही तप और शास्त्राभ्यास का फल बतलाते हैं।

अभिप्राय इतना ही है कि प्राप्त हुए विशिष्ट आगमज्ञान एवं तप के निमित्त से किसी प्रकार के अभिमान आदि को न प्राप्त होकर जो राग द्वेष एवं विषय वांछा आदि परमार्थ सुख की प्राप्ति में बाधक हैं अतः उन्हें ही नष्ट करना चाहिए। यही उस आगमज्ञान एवं तप का फल है।

धर्म पालन, कर्तव्य निर्वहन, साधुत्व, प्रभावना, शिक्षा, दीक्षा, गुरु उपदेश आदि के माध्यम से आत्म कल्याण के साथ-साथ कीर्ति संपादन करनी चाहिए या यथार्थ से कहे तो कीर्ति/प्रसिद्धि आनुसंगिक रूप से हो ही जाती है, परंतु ऐसा कोई भी कार्य व्यवहार नहीं करना चाहिए जिससे आत्मग्लानि, संक्लेश, तनाव, लोक निंदा, धर्म की हँसी, सद्गुरु की अपकीर्ति आदि हो। यथा-

जिस प्रकार मैं संसार से पार उतरू, जिस प्रकार से आपको परम संतोष हो, मेरे कल्याण में संलग्न आपका और संघ का परिश्रम जिस प्रकार से सफल हो॥

जिस प्रकार मेरी और संघ की कीर्ति फैले, मैं संघ की कृपा से उस प्रकार रत्नत्रय की आराधना करूँगा॥

वीर पुरुषों ने जिसका आचरण किया है, कायर पुरुष जिसकी मन से कल्पना भी नहीं कर सकते, मैं ऐसी आराधना करूँगा।

उट्ठानवतो सतिमतो सुयिकम्मस्स निसम्मकारिनो ।
सञ्जतस्य च धम्मजीविनो अप्पमत्तस्य यसोभिवड्ढति॥ ध.प. - श्लो.4

जो उद्योगी, सचेत, शुचि कर्म वाला, सोचकर काम करने वाला है, संयत धर्मानुसार जीविका वाला एवं अप्रमादी है, उसका यश बढता है। (महात्मा बुद्ध)

क्रोधः कामो लोभ मोहो विधित्साऽकृपासूये मान शोकौ स्पृहाच।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्य दोषा वर्ज्या सदा द्वादशैते नराणाम्॥ महाभारत

काम, क्रोध, मोह, लोभ, कुछ बिगाडने की इच्छा, क्रूरता, असूया, अभिमान, शोक, कामना, ईर्ष्या, घृणा ये 12 दोष मनुष्यों को छोड देने चाहिए।

जैन धर्म के आत्मानुशासन, परमात्मप्रकाश, समयसार आदि ग्रंथों में तथा उपनिषद में ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि, लोकेष्णा लाभादि से दूर रहने के लिए आध्यात्मिक साधक को बार-बार संबोधित किया है, सचेत किया है। उपनिषद में तो ख्याति आदि को शुकर विष्ठा कहा है।

इसका रहस्य यह है कि जिस प्रकार शुकर विष्ठा मनुष्य की विष्ठा की विष्ठा होने के कारण घृणित है, त्यजनीय है उसी प्रकार ख्याति, प्रसिद्धि आदि घृणित है, त्यजनीय है। संसारी जीव भौतिक संपत्ति भोग आदि में लिप्त रहता है, परंतु साधु तो बाह्यत: ये सब त्याग कर लिए हैं, परंतु अंतरंग में जो राग, द्वेष, मान आदि कषायें हैं उनके त्याग के बिना ख्याति पूजा आदि की भावना होती है और तद्नुकूल वे उसी प्रकार का कार्य करने के लिए विवश होते हैं। इसलिए गृहस्थ बाह्य भौतिक साधनों के लिए जो कुछ आरंभ समारंभ, लंद-फंद, संक्लेश, तेरा-मेरा, आकर्षण-विर्कर्षणात्मक कार्य करता है उसी प्रकार साधुओं को भी करना पडता है भले बाह्यत: उसका रंग-रूप आकार- प्रकार कुछ भी हो अंतरंग स्वरूप एक परिग्रहधारी गृहस्थ के समान होता है। आध्यात्मिक ग्रंथों में कहा है- **'ख्याति पूजा लाभ रूप लावण्य सौभाग्य पुत्र कलत्र राज्यादि विभूति निमित्तं राग द्वेषपहतार्तरौद्र परिणत यदाराधनं करोति।'**

अर्थात् जीव ख्याति (लोक में प्रसिद्धता) पूजा, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री, राज्यादि की संपदा को प्राप्त होने के लिए जो रागब द्वेष से युक्त आर्त, रौद्र ध्यान रूप परिणामों से सहित आराधना करता है वह यथार्थ से सम्यक्दृष्टि धार्मिक नहीं है भले इससे वह पापानुबंधी पुण्य बाँधकर उसके फलस्वरूप थोडा सा सांसारिक वैभव आदि प्राप्त कर ले तथापि उसका परिणाम कटु ही होता है जैसा कि रावण, कंस, हिटलर, मुसोलिन, सिकंदर आदि प्रसिद्ध उदाहरण हैं। आध्यात्मिक ग्रंथों में कहा है ऐसे दूषित परिणामों से उपार्जित पुण्य पापानुबंधी पुण्य है। जिसके फलस्वरूप जीव उस पुण्य के फल से प्राप्त वैभव आदि से अहंकारी बन जाता है जिससे उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और बुद्धि भ्रष्ट होने पर भयंकर पाप करता है। यथा-पूर्वोक्त रावण आदि। जैनागमों में मद (अहंकार) करने वालों को भी अधार्मिक कहा है तथा जो इन मदों को त्याग करता है वही यथार्थ से सम्यग्दृष्टि, धार्मिक, त्यागी, साधक, साधु, संत है। 1) विज्ञान (कला अथवा हुन्नर) का मद 2) ऐश्वर्य (हुकूमत) का मद 3) ज्ञान का मद 4) तप का मद 5) कुल का मद 6) बल का मद 7) जाति का मद 8) रूप का मद। इस प्रकार नामों के धारक जो 8 मद हैं इनका सराग सम्यक् दृष्टि को त्याग करना चाहिए। और मान कषाय से उत्पन्न जो मद, मात्सर्य, ईर्ष्या आदि समस्त विकल्पों का समूह है इसके त्याग पूर्वक जो ममकार और अहंकार से रहित शुद्ध आत्मा में भावना है वही वीतराग सम्यग्दृष्टि के आठ मदों का त्याग है। कर्मों से उत्पन्न जो देह, पुत्र, स्त्री आदि हैं इनमें यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुत्र है इस प्रकार की जो बुद्धि है वह ममकार है और उस शरीर आदि में अपनी आत्मा से भेद न मानकर जो मैं गोरे वर्ण का हूँ, मोटे शरीर का धारक हूँ, राजा हूँ, मेरी प्रसिद्धि है, इस प्रकार मानना सो अहंकार है।

अथ ख्याति पूजा लाभ दृष्ट श्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूप निदानबंधादिसमस्तशुभाशुभ संकल्पविकल्पवर्जित शुद्धात्मासंवित्तलक्षणपरमोपेक्षासंयमासाध्ये संवरव्याख्याने।

आगे संवर तत्व का व्याख्यान करते हैं, जो संवर अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ व देखे सुने अनुभव हुए भोगों की इच्छा रूप निदान बंध आदि सर्व शुभ व अशुभ संकल्पों से रहित शुद्धात्मा के अनुभव लक्षणमई परम उपेक्षा संयम के द्वारा सिद्ध किया जाता है।

यथातथोपदेशे कृतार्थः सत्वबुद्धिमान्।

आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति॥ 01 (अष्टा. गीता)

सत्व बुद्धि वाला पुरुष थोडे से उपदेश से ही कृतार्थ होता है। असत् बुद्धि वाला पुरुष आजीवन जिज्ञासा करके भी उसमें मोह को ही प्राप्त होता है।

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।

एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु॥ 02

विषयों में विरसता मोक्ष है। विषयों में रस बंध है। इतना ही विज्ञान है। तू जैसा चाहे वैसा कर।

वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजडालसम्।

करोति तत्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षुभिः॥ 03

यह तत्त्वबोध वाचाल, बुद्धिमान् और महाउद्योगी पुरुष को गूंगा, जड और आलसी कर जाता है। इसलिए भोग की अभिलाषा रखने वालो के द्वारा तत्त्वबोध त्यक्त है।

श्रोत्रियं देवतां तीर्थमंगनां भूपति प्रियम्।

दृष्ट्वा संपूज्य धीरस्य न कापि हृदि वासना॥ 54

धीर पुरुष के हृदय में पंडित, देवता और तीर्थ का पूजन करके तथा स्त्री, राजा और प्रियजन को देखकर कोई भी वासना नहीं होती।

अज्ञानी की स्पृहा होती है, वासना होती है जिनकी पूर्ति हेतु वह ज्ञान-प्राप्ति के लिए पंडितों के पास जाता है, धन, यश एवं पुत्र प्राप्ति हेतु देवताओं की पूजा अर्चना करता है, अपने पापों के प्रक्षालन हेतु वह तीर्थों का भ्रमण करता है, उनका पूजन करता है, मंदिरों में जाकर अर्चना, वन्दना करता है, वह स्त्री को देखकर काममोहित होकर उसको प्राप्त करना चाहता है, वह राजा की चाटुकारीता करता है, मंत्रियों के पीछे-पीछे घूमता है कि कहीं कोई पद मिल जाय, चुनाव टिकिट मिल जाय, वह प्रियजनों को देखकर भी उनसे कुछ प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है। अष्टावक्र कहते हैं कि धीर पुरुष ज्ञानी भी इन्हें देखता है किंतु उसमें वासना नहीं होने से वह इनसे कुछ भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता। वासना युक्त मन ही विकारी होता है।

अकुर्वन्नपि संक्षोभाद्व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः।

कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः॥ 58

अज्ञानी कर्मों को नहीं करता हुआ भी सर्वत्र विक्षोभ (संकल्प-विकल्प) के कारण व्याकुल रहता है और ज्ञानी सब कर्मों को करता हुआ भी शांत चित्त वाला ही होता है।

सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च।
सुखं वक्ति सुखं भुक्ते व्यवहारेऽपि शान्तधीः ॥ 59

शांत बुद्धि वाला ज्ञानी व्यवहार में भी सुखपूर्वक बैठता है, सुखपूर्वक आता है और मर जाता है, सुखपूर्वक बोलता है और सुखपूर्वक भोजन करता है।

मन्दः श्रुत्वायि तद्वस्तु न जहाति विमुढताम्।
निर्विकल्पो बहिर्यत्नादन्तर्विषयलालसः ॥ 76

मंद बुद्धि उस तत्त्व को सुनकर भी मूढता को नहीं छोडता है। वह बाह्य प्रयत्न में निर्विकल्प होकर मन में विषयों की लालसा वाला होता है।

नैव प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचित।
धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम् ॥ 81

धीर पुरुष का चित्त अमृत से पूरित हुआ शीतल है। इसलिए न वह लाभ के लिए प्रार्थना करता है और न हानि के लिए कभी चिंता करता है।

यथार्थ ज्ञान का स्वरूप–सुफल

येनाज्ञानतमस्ततिर्विघटिता ज्ञेये हिते चाहिते,
हानादानमुपेक्षणं च समभूत्तस्मिन् पुनः प्राणिनाम्।
येनेयं दृगुपैति तां परमतां, वृत च येनानिशं,
तज्ज्ञानं मम मानसाम्बुजमुदे स्तात्सूर्यवर्योदयम्।।96 आचार सार

जिसके द्वारा अज्ञान रूपी अन्धकार का समूह नष्ट होता है, जिसके द्वारा प्राणियों के हितकारी पदार्थ का ग्रहण और अहितकारी पदार्थ का मोचन होता है, जिसके होने पर प्राणियों की पर–पदार्थ में उपेक्षा होती है, जिसके द्वारा यह सम्यग्दर्शन श्रेष्ठता को प्राप्त होता है और जिसके द्वारा चारित्र निरन्तर उत्कृष्टता को प्राप्त होता रहता है और जिसका उदय आचार्य रूपी सूर्य से हुआ है, वह ज्ञान मेरे मन रूपी कमल के विकास के लिए हो।

स्वस्मै योऽसौहितोऽध्यायः स्वाध्यायो वाचनादिक।
तपो वर्यमतो नान्यत्तपःसुद्वादशस्वपि।।95

अपने हित के लिए जो अध्ययन होता है वह स्वाध्याय कहलाता है। इसके वाचना, पृच्छना आदि भेद कहे जा चुके हैं। अनशन आदि बारहों तपों में इससे श्रेष्ठ दूसरा तप नहीं है।

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे।। (अथर्व./4/14/4)

परमानन्द की और बढ़ते हुए जो विद्वान योगिजन बिना किसी बाहरी वस्तु की अपेक्षा किए द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक के रहस्य जान लेते हैं, वे ही संसार को उन्नत करने वाले शुभ कर्मों को सब ओर फैलाते हैं, अथवा संसार को धारण करने वाले ब्रह्मज्ञान का सर्वत्र प्रचार करते हैं।

ज्ञान सच्चाई के सरलीकरण पर निर्भर करता है, जो इसे भाषा में अभिव्यक्त करने योग्य और सभी के समझने लायक बना देता है। उसके बाद अनिवार्य रूप से ज्ञान के लिए हमारी इच्छा की नींव बनती है और अज्ञानता के प्रति हमारी इच्छा परिष्कृत होती है। किसी को भी ज्ञान या सच्चाई के प्रतिरक्षक का रवैया नहीं अपनाना चाहिए क्योंकि सच्चाइयाँ, पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होती हैं और कोई भी प्रमाणित रूप से 'सही' नहीं होता। किसी भी तथ्य को अपने शुद्धतम रूप में पाने का सबसे अच्छा तरीका है कि स्वयं से प्रश्न किया जाए और अपनी आत्मा को अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त रखा जाए। इस अवस्था को सारबद्ध करने के लिए मैंने इसे 'मुक्त आत्मा' का नाम दिया है। इस शब्द का प्रयोग मैंने सत्य की खोज के लिए किया है क्योंकि वह स्वयं को किसी भी सुनिश्चिता या सच्चाई से बंधने नहीं देती जो कि पूर्वाग्रह पर आधारित है।

स्वतंत्र होने के लिए आवश्यक रुप से निरन्तर अपना परीक्षण करना चाहिए और स्वयं को किसी भी विचार से जुड़ने की अनुमति नहीं देनी चाहिए। कोई भी पूर्वाग्रह, किसी भी रूप में–चाहे वे दूसरे लोग हों, पितृभूमि हो, विज्ञान या फिर अपने अंदर के वे गुण जिन्हें तुम प्रशंसनीय मानते हो, मुक्त आत्मा की अवस्था प्राप्त करने में बाधक है। **अहा! जिंदगी (फेडरिक नीत्शे)**

उपर्युक्त विवरणों से सिद्ध होता है कि जो आगम/सच्चे धर्मग्रन्थों के अध्ययन, मनन के साथ–साथ इससे प्राप्त ज्ञान से सत् विश्वास, सत् विवेक, सदाचार, समता, शान्ति, पवित्रता, ध्यान आदि के माध्यम से स्व–आत्मा के अनन्तज्ञान–सुख–गुण आदि को विकृत एवं कम करने वाले अन्धविश्वास, संकीर्णता, हठग्राहिता, ईर्ष्या–द्वेष, तृष्णा, अहंकार, मायाचार, आसक्ति, प्रमाद, मोह, माया, कामना, कामासक्ति, प्रसिद्धि आदि को दूर करता जाता है तब वह आत्मा के ज्ञान आदि गुण प्रगट करता जाता है। यथा :–

सुदणाण–भावणाए णाणं मत्तंड–किरण–उज्जोओ।
चंदुज्जलं चरित्तं णियवस–चित्तं हवेदि भव्वाणं।।50 पृ.12 तिलोयपण्णत्ती

श्रुतज्ञान की भावना से भव्य जीवों के ज्ञान सूर्य की किरणों के समान उद्योतरूप अर्थात् प्रकाशमान होता है; चरित्र चन्द्रमा के समान उज्ज्वल होता है तथा चित्त अपने वश में होता है।

कणय–धराधर–धीरं मूढ–त्तय–विरहिदं हयट्ठमलं।
जायदि पवयण–पढणे सम्मद्दंसणमणुवमाणं।।51

प्रवचन (परमागम) के पढ़ने से सुमेरु पर्वत के समान निश्चल; लोकमूढता, देवमूढता और गुरुमूढता, इन तीनों (मूढताओं) से रहित और शंका–कांक्षा आदि आठ दोषों से विमुक्त अनुपम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

सुर–खेयर–मणुवाणं लब्भंति सुहाइं आरिसब्भासा।
तत्तो णिव्वाण–सुहं णिण्णासिद दारुणट्ठमला।।52

आर्ष वचनों के अभ्यास से देव, विद्याधर तथा मनुष्यों के सुख प्राप्त होते हैं और अन्त में दारुण अष्ट कर्ममल से रहित मोक्ष सुख की भी प्राप्ति होती है।

जब जीव उपर्युक्त प्रक्रिया से अनन्त आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करता है तब वह सर्वज्ञ–सर्वदर्शी बनकर सम्पूर्ण–समग्र परमसत्य को एक समय में एक साथ देखता है, जानता है तथा अनन्त आत्मिक सुख–शान्ति का अनुभव करता है। ऐसे सर्वज्ञत्व अवस्था को प्राप्त आध्यात्मिक महात्मा ही अनन्तानन्त अलोकाकाश (प्रतिब्रह्माण्ड) तथा ब्रह्माण्ड (लोकाकाश) में स्थित अनन्तानन्त ज्ञेय द्रव्यों को जानते हैं।

ब्रह्माण्ड में स्थित अनन्त द्रव्य

जगसेढि–घण–पमाणो लोयायासो स–पंच–दव्व–ठिदी।
एस अणंताणंतालोयायासस्स बहुमज्झे।।91 पृ.20

≡ 16 ख ख ख

यह लोकाकाश ≡ अनन्तानन्त अलोकाकाश (16 ख ख ख) के बहुमध्य–भाग में जीवादि पाँच द्रव्यों से व्याप्त और जगच्छ्रेणी के घन (343 घन राजू) प्रमाण है।

विशेष– इस गाथा की संदृष्टि (≡ 16 ख ख ख) का अर्थ इस प्रकार है–

≡ , का अर्थ लोक की प्रदेश–राशि एवं धर्माधर्म की प्रदेश राशि।

16, सम्पूर्ण जीव राशि।

16 ख, सम्पूर्ण पुद्गल (की परमाणु) राशि।

16 ख ख, सम्पूर्ण काल (की समय) राशि।

16 ख ख ख, सम्पूर्ण आकाश (की प्रदेश) राशि।

ऐसी सर्वज्ञता अनेक भवों की दीर्घ आध्यात्मिक साधना से प्राप्त होती है। आध्यात्मिक साधना से तद्भव में यदि सर्वज्ञत्व अवस्था प्राप्त नहीं होती है तथापि वह साधना व्यर्थ नहीं हो जाती है। उसके संस्कार जन्म–जन्मान्तर में उत्तरोत्तर आत्मविकास के लिए कारण बनते हैं। तीर्थंकर, गणधर, केवली, ऋषि, मुनि, महात्मा, महामानव, विशेष ज्ञानी–गुणी, धर्मात्मा, सज्जन आदि पूर्वोपार्जित ऐसे ही संस्कार से युक्त होने से वे सामान्य जनों से असामान्य होते हैं। जैन एवं वैदिक धर्मग्रन्थों में वर्णित भगवान् ऋषभदेव के व्यक्तित्व से उपर्युक्त विषयों की प्रामाणिकता स्पष्ट हो जाती है। यथा–

मतिश्रुते सहोत्पन्ने ज्ञानं चावधिसंज्ञकम्।
ततोऽबोधि स निश्शेषा विद्या लोकस्थितीरपि।।178

पृ.29 (यु.नि.भ ऋ)

मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ही ज्ञान भगवान् के साथ–साथ ही उत्पन्न हुए थे इसलिए उन्होंने समस्त विद्याओं और लोक की स्थिति को अच्छी तरह जान लिया था।

विश्वविद्येश्वरस्यास्य विद्याः परिणताः स्वयम्।
ननु जन्मान्तराभ्यासः स्मृतिं पुष्णाणि पुष्कलाम्।।179

वे भगवान् समस्त विद्याओं के ईश्वर थे इसलिए उन्हें समस्त विद्याएँ अपने आप ही प्राप्त हो गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि जन्मान्तर का अभ्यास स्मरण शक्ति को अत्यन्त पुष्ट रखता है।

कलासु कौशलं श्लाघ्यं विश्वविद्यासु पाटवम्।
क्रियासु कर्मठत्वं च स भेजे शिक्षया विना।।180

वे भगवान् शिक्षा के बिना ही समस्त कलाओं में प्रशंसनीय कुशलता को, समस्त विद्याओं में प्रशंसनीय चतुराई को और समस्त क्रियाओं में प्रशंसनीय कर्मठता (तर्क करने की सामर्थ्य) को प्राप्त हो गये थे।

अथ ह तमुत्पत्यैवाभिण्यज्यमानभगवल्लक्षणं साम्योपशमवैराग्यैश्वर्यमहाविभूतिभिरनुदिनमें धमानानुभावं प्रकृतयः प्रजा ब्राह्मणादेवताश्चा वनितलसमवनायातितरां जगृधुः।1 भागवत

श्री शुक्रदेव जी कहते हैं– राजन् ! नाभिनंदन के अंग जन्म से ही भगवान् विष्णु के वज्र–अंकुश आदि चिह्नों से युक्त थे। समता, शान्ति, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियों के कारण उनका प्रभाव दिनोंदिन बढ़ता जाता था। वह देखकर मंत्री आदि प्रकृति वर्ग, प्रजा, ब्राह्मण और देवताओं की यह उत्कृष्ट अभिलाषा होने लगी कि ये ही पृथ्वी का शासन करें।

कदाचिल्लिपिसंख्यान गन्धर्वादिकलागमम्।
स्वभ्यस्तपूर्वमभ्यस्यन् स्वयमभ्यासयत् परान्।।189 पृ.31

भगवान् ऋषभदेव कभी तो जिनका पूर्व भव में अच्छी तरह अभ्यास किया है ऐसे लिपि विद्या, गणित विद्या तथा संगीत आदि कला शास्त्रों का स्वयं अभ्यास करते थे और कभी दूसरों को कराते थे।

छन्दोक्वचित्सलंकारप्रस्तारादिविवेचनैः।
कदाचित्भावमान गोष्ठीश्चित्राद्यैश्च कला गमैः।।190

कभी छन्द शास्त्र, कभी अलंकार शास्त्र, कभी प्रस्तार नष्ट उद्दिष्ट संख्या आदि का विवेचन और कभी चित्र खींचना आदि कला शास्त्रों का मनन करते थे।

कदाचित् पद गोष्ठीभिः काव्यगोष्ठीभिरन्यदा।
वावदूकैः समं कैश्चित् जल्पगोष्ठीभिरेकदा।।191

कभी वैयाकारणों के साथ व्याकरण संबंधी चर्चा करते थे, कभी कवियों के साथ काव्य विषय की चर्चा करते थे और कभी अधिक बोलने वाले वादियों के साथ वाद करते थे।

कर्हिचिद् गीतगोष्ठीभिर्नृत गोष्ठीभिरेकदा।
कदाचित् वाद्यगोष्ठीभिर्वीणा गोष्ठीभिरन्यदा।।192

कभी गीत गोष्ठी, कभी नृत्य गोष्ठी, कभी वादित्रगोष्ठी और कभी वीणागोष्ठी के द्वारा समय व्यतीत करते थे।

कर्हिचिद् बहिरूपेणनटतः सुरचेटकान्।
नटयन् करतालेन लयमार्गानुयायिना।।193

कभी मयूरों का रूप धर कर नृत्य करते हुए देवकिंकरों को लय के अनुसार हाथ की ताल देकर नृत्य कराते थे।

तदा स्वायंभुवं नाम पदशास्त्रमभूत महत्।
यत्तत्परशताध्यायैरतिगम्भीरमब्धिवत्।।112 पृ.50

उस समय स्वयंभू अर्थात् भगवान् वृषभदेव का बनाया हुआ एक बहुत भारी व्याकरण शास्त्र प्रसिद्ध हुआ था उसमें सौ से भी अधिक अध्याय थे और वह समुद्र के समान अत्यन्त गम्भीर था।

यावती जगती वृत्तिरपापोपहता च या।
सा सर्वास्य मतेनासीत् स हि धाता सनातनः।।188 पृ.72

उस समय संसार में जितने पाप रहित आजीविका के उपाय थे वे सब भगवान् ऋषभदेव की सम्मति में प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि सनातन ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव ही है।

दीक्षान्तर मुद्भूत मनः पर्ययबोधनः।
चक्षुर्ज्ञानधरः श्रीमान् सान्तर्दीप इवालयः।।13 पृ.82

दीक्षा के अनन्तर ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था इसलिए मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानों को धारण करने वाले श्रीमान् भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसके भीतर दीपक जल रहे हैं ऐसा कोई महल ही हो।

योगौश्वर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरग्रहणादीनियदृच्छयोपगतानि नाऋजसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत।।35 पृ.124 (भागवत)

उनके पास आकाश गमन, मनोजवित्व (मन की गति के समान ही शरीर की भी इच्छा करते ही सर्वत्र पहुँच जाना), अंतर्धान, परकाय प्रवेश (दूसरे के शरीर में प्रवेश करना), दूर की बातें सुन लेना और दूर के दृश्य देख लेना आदि सब प्रकार की सिद्धियाँ अपने आप ही सेवा करने को आयीं, परन्तु उनका मन से आदर व ग्रहंण नहीं किया।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्म की जो कुछ उद्धत प्रकृतियाँ थी उन सबको उन्होंने एकत्ववितर्क नाम के दूसरे शुक्लध्यान से नष्ट कर डाला और उस प्रकार वे मुनिराज ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा अतिशय दुःखदायी चारों घातिया कर्मों को जलाकर केवलज्ञानी होकर लोका–लोक के देखने वाले सर्वज्ञ हो गये।

अनन्तज्ञानदृग्वीर्यविरतिः शुद्धदर्शनम्।
दानलाभौ च भोगोपभोगावानन्त्यमाश्रिता।।265 पृ.102
नवकेवललब्धीस्ता जिन भास्वान् द्युतीरिव।
स भेजे जगदृद्भासी भव्याम्भोजानि बोधयन्।।266

इस प्रकार समस्त जगत् को प्रकाशित करते हुये और भव्य जीवरूपी कमलों को प्रफुल्लित करते हुए वे वृषभ–जिनेन्द्ररूपी सूर्य किरणों के समान अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, चरित्र, शुद्ध सम्यक्त्व, दान, लाभ, भोग और उपभोग इन अनन्त नौ लब्धियों को प्राप्त हुये।

उपर्युक्त भगवान् ऋषभदेव के व्यक्तित्व से सिद्ध होता है कि पूर्व संस्कार से ऋषभदेव गर्भ से ही तीन ज्ञान के धारी थे जिससे वे विद्यालय में अध्ययन के बिना ही अध्यापन, ग्रन्थ लेखन, असि (युद्धविद्या/सुरक्षा ज्ञान), मसि (अंकाक्षर ज्ञान से जीविका निर्वाह), कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवा, राजनीति, प्रशासन, कला आदि का प्रशिक्षण दिया तथा स्वयं राजा बनकर राज्यशासन किया। यह सब होते हुए भी दीर्घकालीन गृहस्थावस्था में उन्हें सर्वज्ञता की प्राप्ति तो अतिदूर परन्तु मनःपर्ययज्ञान एवं 64 ऋद्धियाँ भी प्राप्त नहीं हुई। समस्त वैभव, भोग आदि त्याग करके जब वे साधु बने तब उन्हें मनःपर्ययज्ञान एवं ऋद्धियाँ प्राप्त हुई। इन सब उपलब्धियों के बाद

भी वे धर्म प्रचार, उपदेश आदि के बिना मनन–चिन्तन–ध्यान में संलग्न रहे जब तक कि उन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। **"सिद्धि स्वात्मोपलब्धि"** के अनुसार उन्होंने स्व– आत्मसाधना से अनन्तज्ञान–दर्शन–वीर्य–सुखादि की उपलब्धि की। महात्मा बुद्ध भी बाल्यावस्था में ही इतने ज्ञानी थे कि विद्यालय में विद्यार्थीयों से लेकर शिक्षक तक को शिक्षा देने लगे तथापि बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए राजपाट आदि त्याग करके सन्यासी बनकर साधना की। भक्त प्रहलाद भी पूर्व जन्म के संस्कार के कारण ज्ञानी थे जिसके कारण स्व–पिता राजा हिरण्यकश्यप के अंहकार पूर्ण साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का विरोध किया। इसी प्रकार ब्रह्मर्षि अष्टावक्र, ऋषि शुकदेव आदि कुछ उदाहरण भी द्रष्टव्य है। कालिदास, नचिकेता, सुकरात, इसप, ईसा मसीह, कबीरदास, तुलसीदास आदि दार्शनिक, संत, कवि भी अपने–अपने क्षेत्र में जो योग्यता प्राप्त की थी वह भी कोई पुस्तकीय रटन्त शिक्षा से नहीं अपितु अपनी साधना के बल पर प्राप्त की थी। ऐसा ही विश्वकवि रविन्द्रनाथ ठाकुर, महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन से लेकर महात्मा गांधी तक जान लेना चाहिए।

प्रायः 1100 वैज्ञानिक उपकरणों के अविष्कारक वैज्ञानिक एडिसन स्कूल में तो कुछ महिना औपचारिक शिक्षा प्राप्त की थी और घर में 3 वर्ष। सामान्य बुद्धि वाले न्यूटन सेव के पेड़ के नीचे गुरुत्वबल की खोज की तो मंद बुद्धि वाला विद्यार्थी आईन्स्टीन एकान्त में चिन्तन–ध्यान के माध्यम से गणित के सिद्धांत से सापेक्ष सिद्धांत, $E=mc^2$ आदि की खोज करके पेन्सिल से कागज में लिखते गये। सह सब न उन्होंने कोई विश्वविद्यालय में पढा था न ही प्रयोगशाला में सीखा था। भले बाद में अन्य वैज्ञानिकों ने उसे प्रयोग किया तथा प्रयोगशाला में परीक्षण किया किन्तु उनके अधिकांश सिद्धांत वे स्व–प्रज्ञा से कागज में लेखरूप में प्रकाशित किया था। ऐसा ही अधिकांश वैज्ञानिक खोज–आविष्कार–निर्माणादि पुस्तकीय पाठ से अधिक सतत साधना के फल है। केवल लौकिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, धार्मिक, आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन, लेखन आदि से सम्पूर्ण समग्र–परम–अनन्त सत्य का ज्ञान एवं उपलब्धि संभव इसलिए नहीं है क्योंकि यह सब भौतिक, यांत्रिक, इन्द्रिय सीमा आश्रित, मानसिक है और इन सब की शक्ति असीम–अनन्त नहीं है किन्तु सीमा है। अतएव इन सबको पार करके जो असीम–अनन्त ज्ञान–शक्ति सत्पन्न आत्म की उपलब्धि आध्यात्मिक विकास से कर लेता है वह सर्वज्ञाता बन जाता है। यथा– **"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा, नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन", तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः आनन्दरूपं अमृतं यद् विभाति" "आत्मा विज्ञानेनेदं सर्व विदितम्" (उपनिषद)** अर्थात् अतीतिक–अमूर्तिक अनन्त गुण सम्पन्न परमात्मा की प्राप्ति वचन, मन, चक्षु, प्रवचन, बुद्धि, बहुत श्रुतज्ञान से संभव नहीं है परन्तु उस आनन्द धन स्वरूप अमृतमय परमात्मा की आध्यात्मिक अनुभवमय विज्ञान के द्वारा धीर–गंभीर–साम्यभावी पुरुष पूर्णतः दर्शन करता है। आत्मा के विज्ञान से सम्पूर्ण का ज्ञान हो जाता है।

जिस प्रकार भौतिक स्कन्द (मोलक्यूल) की स्थुलता बढने से उसकी ऊर्जा बढती है परन्तु $E=mc^2$ सिद्धान्तानुसार स्कन्ध का विघटन होता है तो उसकी ऊर्जा

बढती है तथा जैन धर्म में वर्णित परमाणु की ऊर्जा भौतिक द्रव्य (पुद्गल) में सब से अधिक होती है; उसी प्रकार जब जीव राग–द्वेष–मोहात्मक भावकर्म, ज्ञानावरणीय आदि द्रव्यकर्म के अनन्तानन्त कर्मपरमाणु, शरीर रूपी नोकर्म एवं भौतिक धन–सम्पत्ति–वैभव–भोगोपभोग की सामग्रियों की आसक्ति से बन्धा हुआ जीव स्थूल/अशुद्ध/मिश्र होता है तब उसकी आध्यात्मिक ऊर्जा (शक्ति, चेतना) भी बन्धी हुई (स्थूल/अशुद्ध/मिश्र) रहती है। जितने–जितने अंश में जीव उपर्युक्त बन्धनों से समग्रता से मुक्त होता जाता है उतने–उतने अंश में उसकी ऊर्जा मुक्त होती जाती है और सम्पूर्ण से समग्रता से मुक्त होने पर स्वनिहीत ऊर्जा प्रगट हो जाती है। जैसा की दर्पण जितने–जितने अंश में गन्दा होता है उतने–उतने अंश में उसकी स्वच्छता/प्रतिविम्बित करने की क्षमता घटती है और जितने–जितने अंश में गन्दा नहीं होता है या उतने–उतने अंश में गन्दगी हटती है तथा स्वच्छता बढती है उतने–उतने अंश में प्रतिविम्बित करने की क्षमता बढती है वैसा ही जीव जितने–जितने अंश में मानसिक–भावात्मक–ज्ञानात्मक–आध्यात्मिक रूप से मलिन होता है उतने–उतने अंश में उसकी ऊर्जा/चेतना घटती है और जितने अंश में निर्मलता आती है उतने–उतने अंश में उसकी ऊर्जा/चेतना बढती है तथा पूर्ण निर्मलता से सम्पूर्ण अनन्त ऊर्जा/चेतना प्रगट हो जाती है। इस अवस्था को ही सर्वज्ञता कहते हैं। ऐसी अवस्था में जानने, देखने, सुंघने, अनुभव करने आदि के लिए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, ग्रन्थ, यंत्र, प्रकाश आदि की आवश्यकता ही नहीं होती है तथा काल–क्षेत्र की सम्पूर्ण व्यवधान/अन्तर समाप्त हो जाता है। यथा–

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।।1 पृ.2 पु. सि.

Victroy to that supreme light, where, as it were in a mirror, is reflested the chain of all their infinite conditions.

वह प्रसिद्ध परमज्योति जयवन्त हो। लोक–अलोक को प्रकाशित करने वाली लोक के लोचन स्वरूप अत्यन्त उत्कृष्ट निर्मल ज्योति होने के कारण केवलज्ञान ही परम ज्योति है। यह परम ज्योति ज्ञान मूर्ति है। यह ज्ञानात्मक परमज्योति अष्टकर्म से रहित होने के कारण तथा सम्यक्त्वादि अष्ट गुणों से युक्त होने के कारण श्रेष्ठ है, निर्मल है, चैतन्य स्वरूप है। जयति अर्थात् सबसे उत्कृष्ट रूप में प्रवर्तन होती है।

जिस आत्मा में समस्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सिद्धत्व, निरागत्व, अक्षय, अव्याबाधत्व आदि गुण सादि अनन्त, अनादि अनन्त पर्यायों के साथ पदार्थों की मालिका/श्रृंखला नव पदार्थों की परम्परा सम्यक् रूप में युगपत्/एकसाथ समग्रता रूप में प्रतिफलित/प्रतिबिम्बित होती है। जिस प्रकार आदर्श/दर्पण में योग्य द्रव्य–क्षेत्र में रहते हुए रूपी द्रव्य अर्थात् भौतिक वस्तु प्रतिबिम्बित होती है, उसी प्रकार अष्टकर्ममलों से रहित अचिन्त्य सामर्थ्य से युक्त परम ज्योति में/परम ब्रह्म में त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण वस्तु समूह हस्तरेखा के समान प्रकाशमान होती है।

संपुण्णं तु समग्गं, केवलमसवत्त सव्वभावगयं।
लोयालोयवितिमिरं, केवलणाणं मुणेदव्वं।।460 गो. जी. 214

यह केवलज्ञान, सम्पूर्ण, केवल, प्रतिपक्ष रहित, सर्व पदार्थगत और यह ज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करने वाला है और लोकालोक के विषय में आवरण रहित है तथा जीव द्रव्य के जितने अंश हैं वे यहाँ पर सम्पूर्ण व्यक्त हो गए हैं। इसलिए उसको (केवलज्ञान को) सम्पूर्ण कहते हैं। मोहनीय और वीर्यान्तराय का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण वह अप्रतिहत शक्ति युक्त है और निश्चल है अतएव उसको समग्र कहते हैं। इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता इसलिये केवल कहते हैं। चारों घातिकर्मों के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होने के कारण वह क्रमकरण और व्यवधान से रहित है, फलतः युगपत् और समस्त पदार्थों को ग्रहण करने में उसका कोई बाधक नहीं है, इसलिए उसको असपत्न (प्रतिपक्षरहित) कहते हैं।

असहायं स्वरूपोत्थं निरावरणमक्रमम्।
घातिकर्मक्षयोत्पन्नं केवलं सर्वभावगम्।।30 त.सा.पृ.15

जो किसी बाह्य पदार्थ की सहायता से रहित हो, आत्मस्वरूप से उत्पन्न हो, आवरण से रहित हो, क्रमरहित हो, घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुआ हो तथा समस्त पदार्थों को जानने वाला हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगदं।।23

जैसे सूर्य या दीपक का एक निश्चित आकार होता है परन्तु उसका प्रकाश उस निश्चित आकार से भी अधिक फैलता है, प्रकाश फैलने पर भी सूर्य या दीपक फैलता नहीं है, परन्तु जहाँ तक उसका प्रकाश फैलता है उसका उतना क्षेत्र माना जाता है। जैसे एक चुम्बक और उसका चुम्बकीय क्षेत्र अलग–अलग होता है। चुम्बक का आकार छोटा और उसका चुम्बकीय क्षेत्र उसके आकार को घेरता हुआ बड़ा होता है। इसी प्रकार केवलज्ञानी के आत्मप्रदेश असंख्यात होते हुए भी उनका आकार अंतिम शरीर के आकार के समान है। सिद्ध भगवान् का तो आकार अंतिम शरीर से भी कुछ कम है। कुछ केवली भगवान् मोक्ष के पहले चार प्रकार के समुद्घात करते हैं। उसे केवली समुद्घात कहते हैं। अंतिम केवली समुद्घात में उनके आत्मप्रदेश सम्पूर्ण 343 घनराजू प्रमाण लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं। अन्य समय में उनके आत्मप्रदेश संसारावस्था में स्वदेह प्रमाण भी रहते हैं और सिद्धावस्था में चरमशरीर से किंचित् न्यून आकार में रहते हैं। परन्तु सर्वज्ञ भगवान् हर अवस्था में सम्पूर्ण लोकालोक को जानते हैं।

विकासवाद एवं मानव

धरती पर इंसान की उत्पत्ति ही सर्वश्रेष्ठ नस्ल के रूप में हुई है। अब ब्रिटेन के एक प्रमुख 'जीन' शास्त्री ने पूर्वानुमान लगाया है कि इंसान के विकास का भी एक ठहराव बिन्दु है। अब मानव प्रजाति का और अधिक नस्लीय विकास नहीं होगा। अगले 10 लाख वर्षों तक भी यदि मानव जाति अपना अस्तित्व बचाए रखता है, तब भी उनका स्वरूप वर्तमान मानव जैसा ही होगा।

मानव विकास के लिए आवश्यक तत्त्व जैसे, प्राकृतिक अनुकूलन और आनुवांशिक बदलाव अब मनुष्य जीवन में अहम भूमिका नहीं निभा रहे हैं, जबकि किसी भी जीव का जैविक विकास उसके अनुकूलन व जीन संरचना पर ही निर्भर करता है।

व्यक्ति विशेष का विलक्षण होना भी आनुवांशिक गुणों पर काफी हद तक निर्भर करता है। यही वजह है कि कुछ लोग सामान्य से ज्यादा तेज होते हैं। वहीं मानव विकास के इम्तिहान में देखा जाता है कि जटिल वातावरण में विकसित मानव नस्ल ज्यादा संघर्षशील होती है, लेकिन आधुनिक दौर में तेजी से बढते वैश्विक तापमान और भौतिक सुख–सुविधाओं के बीच मानव जीन की अनुकूलता घटती जा रही है।

जोन्स के अनुसार आने वाली पीढी को कोई खास आनुवांशिक लाभ नहीं मिलने जा रहा है। दुनिया की अलग–अलग नस्ल मिश्रित हो रही हैं। इस वजह से आसानी से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि इस आनुवांशिक घालमेल में एक समय सारी नस्लों की अनुकूलन क्षमता व जीन संरचना एक जैसी हो जाएगी और मानव नस्ल का विकास थम सा जाएगा। (राजस्थान पत्रिका)

यह सम्भव है कि भविष्य में मानव का शारीरिक रूप में विकास रुक जाये परन्तु सम्पूर्ण भविष्य में समग्र मानव का आध्यात्मिक विकास नहीं रुकेगा। क्योंकि मानव केवल शरीर नहीं है न ही प्रकृति के अनुकूलन का प्रतिफल है न ही आनुवांशिक की परिणति है अथवा न ही जिनोम की मूर्ति है। इतना ही नहीं मानव केवल शरीर, प्रकृति, अनुकूलन, आनुवांशिक तथा जिनोम का समूह रूप भी नहीं है। यह सब तो केवल बाह्य निमित्त तथा भौतिक घटक है किन्तु यथार्थ मानव तो मानव शरीर में व्याप्त अनन्त परम चेतना की एक अवस्था विशेष है जो आध्यात्मिक साधना के बल पर अनन्त विकास करता हुआ सर्वज्ञ–सर्वदर्शी–आनन्दघन स्वरूप बन सकता है जिसका वर्णन इस रचना में अन्यत्र किया गया है। यह ज्ञान भौतिक विज्ञान में नहीं है न ही भौतिक विज्ञान की प्रक्रिया से इस अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि भौतिक विज्ञान न ही अमूर्तिक द्रव्य–चैतन्य शक्ति को जानता है न ही मानता है न ही उसका विषय है न ही उसे जानने की क्षमता है। इसीलिए तो वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर से आध्यात्मिक चर्चा के अनन्तर खेद प्रगट करते हुए कहा था "जिससे (चेतना से) मैं भौतिक ब्रह्माण्ड को जानने की कोशिश की किन्तु उस जानने वाली शक्ति (चेतना) को जानने की ही कोशिश नहीं की। मेरी भावना है यदि मेरा पुनर्जन्म हो तो भारत में हो जिससे मैं मेरी चेतना को जानने की कोशिश करूँ।" इतना ही नहीं विज्ञान अभी तक भौतिक शुद्ध परमाणु, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, जीव की उत्पत्ति मृत्यु के बाद जीव की स्थिति–गति, वरमुडा–ट्रायेंगल, ब्लैक होल, व्हाइट होल, प्रतिविश्व, प्रतिअणु आदि को पूर्णतः नहीं जानता है। स्वयं बड़े–बड़े वैज्ञानिक मानते हैं कि विज्ञान अभी तक प्रकृति की अनन्त रहस्यमयी परदाओं में से पहली परदा उठाने की कोशिश कर रहा है। अर्थात् विज्ञान को अभी और भी अनन्त रहस्य/सत्य जानना शेष है। विशेष जिज्ञासु मेरी (1) ब्रह्माण्ड–आकाश–काल एवं जीव : अनन्त (2) अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर

परमात्मा आदि कृति अध्ययन करें। वैज्ञानिक मानते हैं कि " विज्ञान का जितना–जितना विकास होता जा रहा है उतना–उतना हमारे (वैज्ञानिकों की) अज्ञानता की सीमा की अनन्तता का ज्ञान होता जा रहा है"। आध्यात्मिक महात्माओं का भी ऐसा ही अनुभव रहा है–

यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञान चेष्टितम्।
उत्तरोत्तर विज्ञानाद्योगिन प्रतिभासते।। (251) आत्मानुशासन

आध्यात्मिक विकासशील ज्ञानी–योगियों को उत्तरोत्तर विज्ञान से स्व पूर्व–पूर्व के आचरण अज्ञान चेष्टित अनुभव होता है। परन्तु जिनका ज्ञान विकासशील नहीं होता है, किन्तु संकीर्ण, हठग्राही, कूपमण्डूकता, मिथ्याग्राही होता है उसे ऐसा अनुभव नहीं हो सकता है। इसलिए वह अन्य के कहे हुए सत्य–तथ्य को भी स्वीकार नहीं कर पाता है, नवीन–नवीन तथ्यों को भी मान नहीं पाता है। किन्तु सत्यग्राही उदार ज्ञान पिपासु की प्रवृत्ति इससे विपरीत होती है यथा–

ग्रन्थ कर्त्ता की नम्रता

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचन्दमुणिणा भणियं जं।। (58)
द्रव्यसंग्रहं इमं मुनिनाथा दोषसंचयच्युताः श्रुतपूर्णाः।
शोधयन्तु तनुश्रुतधरेण नेमिचन्द्रमुनिना भणितं यत्।। (द्रव्य संग्रह)

Let the great sages, full of the (knowledge) of Shastras and freed from the collection of faults, correct this Dravya-samgraha which is spoken by the sage Nemichandra who has little (knowledge) of the Shastras.

अल्प ज्ञान के धारक मुझ (नेमिचन्द्र मुनि) ने जो यह द्रव्य संग्रह कहा है इसको दोषों से रहित और ज्ञान से परिपूर्ण ऐसे आचार्य शुद्ध करें।

इस अन्तिम गाथा में आचार्य श्री ने लघुता प्रगट करके अपनी महानता का आदर्श प्रस्तुत किया है। द्रव्य संग्रह का गहन अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि आचार्य श्री महान् आध्यात्मिक वेत्ता, नयज्ञान पटु, अनेकान्तात्मक समन्वयवादी तथा आगम रूपी क्षीर समुद्र को मति रूपी मथैनी से मंथन करके सिद्धान्त रूपी अमृत को प्राप्त करने वाले महाप्राज्ञ थे। इसलिए इन्हें सिद्धान्त देव कहते थे।

'बिन्दु में सिन्धु' को भरने वाले एवं एक ही गाथा सूत्र में निश्चय, व्यवहारादि नयों को गूंथने वाले महान् आचार्य श्री ने स्वयं को 'तणुसुत्तधरेण' अर्थात् 'अल्पश्रुतज्ञान के धारक से' शब्द से सम्बोधन करके एक महान् आदर्श को प्रायोगिक रूप में प्रस्तुत किया है। इससे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिए कि हमें कभी भी ज्ञान का अहंकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि हमारे यथार्थ ज्ञान अनन्त केवलज्ञान है। उस ज्ञान के सामने गणधर का ज्ञान भी बहुत छोटा है क्योंकि गणधर भी छद्मस्थ/परोक्षज्ञानी/असंख्यात् ज्ञानी है। तब तो हमारे ज्ञान सूर्य के सामने जुगनू के जैसे भी नहीं है। दोषों से रहित और ज्ञान से परिपूर्ण ऐसे मुनिनाथ इस द्रव्यसंग्रह को शुद्ध करें, ऐसा कहकर आचार्य श्री ने यह कहा है कि छद्मस्थ से दोष हो जाना सम्भव है अतः निर्दोषज्ञानी–महामुनि

इसे शुद्ध करें।

उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रकरण से यह शिक्षा मिलती है कि विद्यार्थी, शिक्षक से लेकर वैज्ञानिक तक तथा धार्मिक गृहस्थों से लेकर आचार्य ग्रन्थकार तक यहाँ तक कि गणधरदेव भी क्यों न हो जब तक सर्वज्ञ नहीं बन जाते हैं तब तक छद्मस्थ हैं, विद्यार्थी हैं। इसलिए तो समवशरण में मनुष्य, देवता, इन्द्र, ऋषि, मुनियों के साथ–साथ गणधरदेव भी सर्वज्ञ भगवान् की दिव्य–ध्वनि सुनते हैं, समझने में नहीं आने पर भगवान्से जिज्ञासा प्रगट करके समझते हैं। वैदिक धर्मानुसार भी ऋषि आश्रम में, गुरुकुल में, आचार्य के पास राजा–महाराजा के बालक भी पढ़ते थे, आवश्यकतानुसार राजा–महाराजा भी उनसे मार्गदर्शन प्राप्त करते थे–उपदेश सुनते थे। बौद्ध धर्मानुसार भी धर्मचक्र–प्रवर्तन के द्वारा महात्मा बुद्ध ने धर्म प्रचार किया, उनके पास भी सामान्य जनता, राजा–महाराजा, भिक्षु संघ ज्ञानार्जन करते थे, उनके प्रिय–शिष्य आनन्द को भी जब कोई विषय समझ में नहीं आता था तब वे बुद्धदेव से समझते थे। ई. पूर्व में ही भारत में नालन्दा विश्वविद्यालय, विक्रमशिला विश्वविद्यालय, तक्षशिला विश्वविद्यालयों में देश–विदेशों के हजारों विद्यार्थी 50–60 विषयों का अध्ययन करते थे। ऐसी महान् संस्कृति के कारण तो भारत प्राचीन काल में विश्वगुरु कहलाया। ऐसी महान् गौरवमयी संस्कृति वाला भारत आज स्वतंत्रता के 61 वर्ष बाद भी अपनी संस्कृति से विपरीत चल रहा है। इतना ही नहीं प्राथमिक विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय, शोध निबन्ध, वैज्ञानिक अनुसंधान केन्द्र तथा प्राथमिक धार्मिक जन से लेकर धार्मिक पंडित, साधु–संत, आचार्य तक एवं प्राथमिक न्यायालय से लेकर उच्चतम न्यायालय और विधान सभा से लेकर लोकसभा तक निष्पक्ष, सनम्र सत्यग्राहकता, समता, सहिष्णुता, शान्ति, उदारता, प्रगतिशीलता, व्यापकता, सूक्ष्मता, गहनता, धैर्य, न्याय, पुरुषार्थ आदि की साधना कम पाई जाती है।

देश–विदेश के किसी भी धर्म के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में समग्र रूप से सांगोपांग विधिवत् आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से कम्प्यूटर, टी.वी, फोन, मोबाइल फोन, ई–मेल, इन्टरनेट–वेबसाइट, एरोप्लेन, रॉकेट, सेटलाइट, अन्तरिक्ष विमान, आफसेट प्रेस, कैमरा आदि का वर्णन या चित्र तक नहीं है। इस दृष्टि से भी धार्मिक ग्रन्थों में सम्पूर्ण सत्य का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार सम्पूर्ण सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, गेलेक्सी , निहारिका, आकाशगंगा, पुंच्छलतारा, उल्कापिण्ड, जीव, भौतिक तत्त्व, आकाश, काल, घटना, जन्म, मृत्यु आदि का वर्णन भी सम्भव नहीं है। इन सब दृष्टि से भी धार्मिक–ग्रन्थों में सम्पूर्ण–समग्र सत्य–तथ्यों का वर्णन नहीं है न ही सम्भव है। धर्म ग्रन्थ तो केवल नक्शा, दिग्दर्शक यंत्र, दीपक, मार्गदर्शक बोर्ड आदि के समान है जिसके निर्देशानुसार यात्री स्वयं निर्विघ्न यात्रा करने पर ही लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं। ऐसा ही आधुनिक भौतिक विज्ञान, वैज्ञानिक, वैज्ञानिक यंत्र, विज्ञान की पुस्तकों से भी परम सम्पूर्ण सत्य की उपलब्धि सम्भव नहीं है। इसलिए विज्ञान तथा वैज्ञानिकों को भी धार्मिक ग्रन्थ एवं धर्माचार्यों से भी सत्य का

प्रशिक्षण लेकर उसे वैज्ञानिक पद्धति से विश्वहित में प्रयोग में लाना चाहिए। विभिन्न धर्मावलम्बियों को भी धार्मिक कट्टरता–संकीर्णता, भेद–भाव, ऊँच–नीच को त्याग करके अन्य धर्म के या दूसरे पन्थ–मत–ग्रन्थ–सन्त–विद्वान् से तथा आधुनिक विज्ञान से भी सत्य–तथ्य को स्वीकार करके स्व–पर–विश्व कल्याण एवं शान्ति के लिए कार्य करना चाहिए। धार्मिक सम्प्रदाय के लोग तो वैज्ञानिक उपकरणों का उपयोग करते हैं परन्तु दूसरे धर्म–पंथ–मत–संत–ग्रन्थों से सत्य तथ्यों को भी कम स्वीकार करते हैं। विज्ञान भौतिक सत्य–तथ्यों को तो सप्रमाण स्वीकार करता है किन्तु अभौतिक सत्य–तथ्यों को स्वीकार करने की योग्यता प्राप्त नहीं कर पाया है परन्तु भौतिक सत्य से भी अभौतिक सत्य एवं दृश्य सत्य से भी अदृश्य सत्य अनन्त गुना अधिक एवं महत्वपूर्ण है। अतः धर्म को वैज्ञानिक सत्य–तथ्य को स्वीकारना चाहिए एवं विज्ञान को धार्मिक सत्य–तथ्य को भी स्वीकारना चाहिए। इससे विश्वकल्याण–विश्वशान्ति सम्भव है। शाश्वतिक परम–सत्य किसी भी क्षेत्र–काल–व्यक्ति–समाज–राष्ट्र–धर्म–सम्प्रदाय–विज्ञान के लिए भी समान है अपरिवर्तनशील है, भले सापेक्ष सत्य (व्यवहार सत्य) धार्मिक मत–सामाजिक–राजनैतिक–कानूनी–परम्परा–शिक्षा–उपदेश–पूजा–पाठ–रीति–रिवाज–आचार–विचार–आधुनिक विज्ञान आदि परिवर्तनशील हो। इसलिए सापेक्ष सत्य (व्यवहार सत्य)से लेकर विज्ञान तक को शाश्वतिक परम–सत्य के आधार पर होना चाहिए अन्यथा वे सब असत्य एवं अहितकारी होंगे। सबका परम लक्ष्य "असतो मा सदगमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्युर्मा अमृतं गमय, विद्ययाऽमृतमश्नुते, ओम शान्तिः शान्तिः शान्तिः" होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य तथा अपरिहार्य है। यह सब क्षमता भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति एवं जैन आध्यात्मिक परम विज्ञान में निहित है। इसलिए भारतीयों को यह कार्य प्रायोगिक रूप से करके विश्व के लिए मार्गदर्शक बनना चाहिए।

प्रस्तुत कृति का उद्देश्य तथा आह्वान

भारतीय संस्कृति केवल प्राचीन नहीं है (सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा) परन्तु सार्वोदयी, सत्यस्वरूप, सर्वजीवहितकारी, सर्वजीवसुखकारी, आध्यात्मिकता एवं भौतिकता में सन्तुलनकारी है। यथा–(1) धर्म से युक्त अर्थतंत्र एवं सांसारिक सुख तथा इनसे भी श्रेष्ठ मोक्ष सुख के समूह "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" या "धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो" अर्थात् सम्पूर्ण जीवों के सर्व सुख को करने वाला एवं हित को करने वाला ही धर्म है। (2) "सत्यं शिवं सुन्दरम्", "सत्यमेव जयते नानृतम्", "सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्", "सत्यं ब्रह्मेति", "सत् द्रव्य लक्षणम्", "जीवमजीवं दव्वं","सचवं भगवं" आदि सत्य का स्वरूप है। (3) "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्","सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु","क्षेमं सर्व प्रजानां","शान्तिः शंतनुतां समस्त जगतः" आदि सूत्र विश्वमैत्री–विश्वशान्ति के उद्घोषक हैं। ऐसी महान् श्रेष्ठ–ज्येष्ठ उदार संस्कृति वाले भारतीयों को सम्पूर्ण पंथ–मत, पूजा–पाठ–परम्परा, क्षेत्र, जाति, भाषा, ईर्ष्या, द्वेष,

संकीर्णता, भेद–भाव, अन्धविश्वास, प्रमाद–आलस्य, अहंकार, आडंबर–प्रसिद्धि, फैशन–व्यसन, पाश्चात्य–अन्धानुकरण, दीनता–हीनता, दैन्य–दुर्बलता, हतोत्साह, कायरता–भीरुता, अकर्मण्यता, लोभ–लालसा आदि जो सत्य–समता–अनुशासन विहीनता–शान्ति–सर्वोदय–स्वतंत्रता मोक्ष के शत्रु हैं, इन्हें पराजित करते हुए परमसत्य की उपलब्धि करना चाहिए तथा उस उपलब्धि से विश्व को लाभान्वित करना चाहिए।

मैंने इस शोधपूर्ण आध्यात्मिक, शिक्षा–मनोवैज्ञानिक कृति की रचना देश–विदेश के अनेक महान् लेखकों के साहित्यों के अध्ययन से तथा मेरे अनुभव के आधार पर की है। जिन महान् लेखकों के साहित्यों का मैंने अध्ययन किया और उसका सार संग्रह इस कृति में किया उन सब लेखकों का मैं आभारी हूँ। इस कृति के कम्पोज, प्रूफ संशोधन में सहयोगी मुनि श्री तीर्थनंदी, मुनि श्री सुविज्ञसागरजी, आर्यिका ऋद्धि श्री आदि को तथा ज्ञानदानी अर्थ सहयोगी भक्तों को मेरा यथायोग्य प्रतिनमोऽस्तु, शुभाशीर्वाद।

विविध धार्मिक–वैज्ञानिक आदि शोधपूर्ण साहित्यों की रचना में सहयोगी वैज्ञानिक चैनलों (Tata sky) के स्वेच्छिक व्यवस्थापक गुरुभक्त दीपेश जैन (चीतरी) को भी मेरा शुभाशीर्वाद।

मेरा हार्दिक आह्वान सकल विश्व के मानव समाज को और विशेषतः धार्मिक जन, विद्यार्थी एवं शिक्षकगण तथा वैज्ञानिकों को कि वे सम्पूर्ण संकीर्णता, पूर्वाग्रह, भाव की मलिनता, पंथ–मत–ग्रन्थ–शिक्षा–विज्ञान–यंत्र–देश–जाति की सीमा से ऊपर उठकर परमसत्य–समता–शान्ति की आराधना के बल पर स्वपरम सत्यस्वरूप स्वशुद्धात्मा की परिज्ञान एवं उपलब्धि करके "सत्यं शिवं सुन्दरम्" "सच्चिदानंद बने।

आचार्य कनकनंदी
10–10–08 (प्रातःकाल)
पाड़वा– साधु तीर्थ

- सुख के मंदिर में ही अज्ञान रुपी विषाद की सर्वश्रेष्ठ समाधि है। **(कीट्स)**
- स्वयं को ज्ञानवान समझना सबसे बड़ा अज्ञान है और अज्ञानी सदा दुखी रहता है। **(वेदान्त तीर्थ)**
- लोभ को केवल एक ही शस्त्र से काटा जा सकता है, और वह है ज्ञान। ज्ञान के अतिरिक्त इस महारोग की अन्य औषधि नहीं है। **(रामकृष्ण परमहंस)**
- किसी दोष का इकरार कर लेना उसको आधा दुरुस्त कर लेना है। **(एच.जी.वेल्स)**

अनुच्छेद–1

आचरण/प्रयोग के बिना लौकिक या धार्मिक शिक्षा अहितकारी

"निरक्षरी जो साक्षरी से अधिक संस्कारवान्, सक्षम, वैज्ञानिक"

पंडित, ज्ञानी, विद्वान्, शिक्षित, धर्मात्मा, सुसंस्कृत व्यक्ति की परिभाषा निम्नोक्त है -

मातृवत् पर दारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत् सर्व जीवेषु यः पश्यति सः पंडितः ॥

सम्पूर्ण पर महिलाओं को माता के समान, दूसरों की धन-सम्पत्ति को मिट्टी के समान, सम्पूर्ण जीवों को स्व-आत्मा के समान मानकर सबसे जो सद्व्यवहार करता है वह पंडित है।

ज्ञान समान न आन जग में सुख को कारण।
यह जन्म-जरा-मृत्यु- रोग निवारण॥

उपर्युक्त वर्णन से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान (शिक्षा, विद्या) समस्त सुखों का कारण है। तथा ज्ञानी का भाव एवं व्यवहार स्व-पर सुखकारी होता है परंतु **"आचारेण विहीनेन साक्षरा एव राक्षसा"** के अनुसार जो सद्संस्कार, सद्भाव, सद्व्यवहार से रहित है वह राक्षस (असभ्य, बर्बर, जंगली) है।

पोथी पढ पढ जग मुंआ, पंडित भया न कोय ।
ढाई आखर प्रेम (आत्मा) का, पढे सो पंडित होय॥
पंडिय पंडिय पंडिय कण छोड तुसिय खण्डिय ।
सद्दो अत्थोसि मूढसि परमत्थु ण जाणेसि मूढसि ॥

अर्थात् जो केवल अक्षर, शब्द, अर्थ, पुस्तक पढता है परंतु परमार्थ, रहस्य, शिक्षा, आत्मा, प्रेम, सत्य, सद्व्यवहार आदि को न ही पढता हो, न ही जानता है तथा आचरण नहीं करता है वह मूर्ख/मूढ/अज्ञानी है। ऐसा व्यक्ति कण (चावल के लिए धान) को छोडकर तुष को कूटता है। **"ज्ञानं भारं क्रिया बिना"** अर्थात् क्रिया/आचरण/व्यवहार के बिना ज्ञान भार स्वरूप है। एक विद्यार्थी **"मातृवत् पर दारेषु"** श्लोक पढने के बाद बच्चों की पुस्तकें फाडता है, दूसरों को मारता है तथा एक महिला जो माथे पर मिट्टी के घडे में पानी लेकर आ रही थी उससे पैसा मांगता है। महिला के द्वारा पैसा नहीं देने पर पत्थर लेकर उसके मटके को फोड डालता है। इन सबकी शिकायत जब उसके पिताजी के पास आती है तब उसके पिताजी उसे इसके बारे में पूछते हैं तब उसने कहा कि हमारे गुरु ने ऐसा करने को कहा है। तब पिताजी उसे लेकर गुरुजी के पास जाकर उपर्युक्त समस्त विषय बताते हैं। गुरुजी के

पूछने पर वह विद्यार्थी उपर्युक्त श्लोक बोलकर कहता है कि - आपने हो कहा था कि पर महिलायें माता के समान हैं, पर द्रव्य मिट्टी के ढेले के समान है तथा प्रत्येक प्राणी मेरे समान है। अत: माँ के समान होने से उस महिला को मुझे पैसा देना चाहिए था परंतु नहीं देने पर मैंने मटके को फोडा क्योंकि दूसरों की वस्तु मिट्टी के समान तुच्छ है तथा पुस्तकें भी तुच्छ हैं। प्रत्येक जीव मेरे समान होने के कारण मैंने दूसरों को नहीं मारा परंतु मैंने मुझे ही मारा है। इसी प्रकार प्राय: साक्षर व्यक्ति होते हैं। कारण कि वे पुस्तकीय साक्षर जानकारी, रटन्त विद्या को ही सर्वेसर्वा मानकर संस्कार हीन, अक्षम, अव्यावहारिक, अयोग्य होते हैं। वे पुस्तकीय पानी से प्यास बुझाने के समान, पुस्तकीय भोजन से क्षुधा मिटाने के समान, पुस्तकीय गाडी से यात्रा करने के समान व्यवहार करते हैं। पानी में प्रवेश किये बिना तैरने संबंधी केवल पुस्तकीय रटन्त ज्ञान से, लेख, निबन्ध, शोध-प्रबन्ध लिखने से या भाषण सुनने से अथवा तैरने जैसे अभिनय से भी जब तक पानी में उतरकर तैरना प्रायोगिक रूप से सीखा नहीं जाता है, तब तक तैरना नहीं आता है, उसी प्रकार लौकिक या धार्मिक साक्षरता प्रायोगिककरण बिना निष्फल है, अप्रयोजनभूत है, दोषकारक है, हानिकारक है। इसके कुछ कारण निम्नोक्त है -

1) आक्षरिक-पुस्तकीय शिक्षा को अधिक महत्व देना :- पाठ्य-पुस्तकों के कुछ प्रश्नों के उत्तरों को परीक्षा/योग्यता का मापदण्ड स्वीकार करना और उसके अनुसार प्रमाण-पत्र, नौकरी, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि प्राप्त होना तथा अन्यान्य शारीरिक, सामाजिक,आध्यात्मिक, नैतिक, व्यावहारिक, दया, करुणा, सेवा, परोपकार, प्रामाणिकता आदि का पाठ्य-पुस्तक, परीक्षा, योग्यता, नौकरी, समाज आदि में गौण होना।

2) ढाई-तीन वर्ष की आयु से पंद्रह-बीस वर्ष तक उपर्युक्त पढाई, परीक्षा में व्यतीत होने के कारण शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक, व्यावहारिक आदि कार्यों से अपरिचित, अपरिपक्व होना। जिससे उपर्युक्त क्षेत्र में प्रायोगिक जीवन्त पुस्तक एवं परीक्षा में फेल होना।

उपर्युक्त दोषों के लिए विद्यार्थी तथा विद्यार्थी से कुछ दृष्टि से अभिभावक, शिक्षक, शिक्षा-विभाग, सरकार, समाज आदि अधिक दोषी हैं। इसके विपरीत जो निरक्षरी होते हैं, वे शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक, व्यावहारिक आदि क्षेत्र में प्रायोगिक रूप से प्रशिक्षित होने के कारण जीवन्त पुस्तक एवं परीक्षा में पास होते हैं। 20-21 वर्ष तक शारीरिक, मानसिक परिपक्वता में वृद्धि की स्थिरता आ जाने के कारण साक्षर व्यक्ति इस दृष्टि से अधकचरा (अधकच्चा-अधपक्का) रह जाता है, क्योंकि इस वय तक पुस्तकीय व्यायामशाला में ही व्यायाम करता रहता है, पुस्तकीय प्रयोगशाला में प्रयोग करता रहता है, पुस्तकीय परीक्षा में पास होता रहता है जिससे

उसका कचुमर निकल जाता है। इस विषय का स्पष्टीकरण निम्नलिखित कुछ उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत कर रहा हूँ-

1) सुसंस्कार बनाम कुसंस्कार- कुछ दिन पहले मैंने (आ. कनकनंदी) जब कॉलेज, विश्वविद्यालयों में अनुशासन आदि की कमियों के बारे में विरोध प्रकट किया तब कॉलेज के एक लेक्चरार ने कहा कि, स्कूल में अनुशासन होता है, कॉलेज थोडे ही अनुशासन के लिए होते हैं। यह कटु सत्य है परंतु अत्यन्त दु:खद एवं भयावह है। "विद्या ददाति विनयं", "विनयं ददाति विद्या" का पूर्ण विलोमी करण आज विद्या के क्षेत्र में है। फैशन-व्यसन, अनुशासन हीनता, बेईमानी, उद्दण्डता, अकर्मण्यता, दयाहीन, अविनय, सेवा से रहित, आलस्यपना, अच्छे विचार एवं कार्य करने के लिए संकोच-अयोग्यता आदि शिक्षा का उद्देश्य/फल या पर्याय बन गया है। "साक्षर बनाम कुसंस्कार" कहना यथार्थ होता जा रहा है। इससे विपरीत अधिकांश निरक्षरी व्यक्ति शालीन, विनम्र, परिश्रमी, सरल-सहज, प्रामाणिक, सेवाभावी, दयालु, परोपकारी, सहिष्णु, अच्छे विचार-कार्य करने वाले पाये जाते हैं। पुस्तकीय रटन्त जानकारी रूपी रुक्षता, प्राकृतिक-नैसर्गिक सरल-सहजता, संस्कार, सदाचार, दया-प्रेम-परोपकार, प्रामाणिकता-कर्तव्य निष्ठा आदि को शुष्क, सारहीन, निर्जीव करती जा रही है। तीर्थंकर, महात्मा बुद्ध, ईसा मसीह, भक्त प्रह्लाद, विश्व कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर, एडीसन (वैज्ञानिक) वाष्प इंजिन के आविष्कारक स्टिफनसन्, कबीर, महापंडित राहुल सांस्कृतायन (केदारनाथ पाण्डे) आदि महाविभूतियाँ वर्तमान की साक्षरता की दृष्टि से निरक्षरी थे। क्या ऐसी विभूति रूपी सूर्य की बराबरी साक्षर रूपी जुगनू कर सकते हैं ?

2) सक्षम बनाम अक्षम - महल के रुम के अन्दर रखे हुए गमले के वृक्ष के समान अधिकांश साक्षर व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, नैतिक, व्यावहारिक दृष्टि से अक्षम होते हैं। क्योंकि उपर्युक्त वृक्ष को भले पर्याप्त सुरक्षा, पानी, खाद प्राप्त हो परंतु पर्याप्त सूर्य किरण, वातावरण आदि के अभाव से जैसा उसमें पूर्ण विकास नहीं होता है वैसा ही साक्षर व्यक्ति को भले अङ्क, अक्षर, पुस्तकीय जानकारी प्राप्त हो परंतु पर्याप्त शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, व्यावहारिक आदि प्रायोगिक ज्ञान/अनुभव प्राप्त नहीं होता है। इस कारण से वह प्रायोगिक जीवन में उपर्युक्त क्षेत्र में अक्षम पाये जाते हैं। धूर्त लोमडी के समान भले वे दूसरों को ठगकर/शोषणकर जीवन को ढोते रहते हैं, परंतु गौ के समान वह सक्षम, परिश्रमी, परोपकारी, दयालु, भद्र, सरल-सहज, मधुर, पूजनीय नहीं बनते हैं। इसलिए निरक्षरी जितना परिश्रमी, सेवाभावी, परोपकारी, ईमानदार, सहज-सरल होते हैं उतना साक्षरी नहीं होते हैं।

3) अनुभवी विशेषज्ञ (वैज्ञानिक) बनाम साक्षर मूर्ख -

"करत-करत अभ्यास से जडमती होत सुजान" 'Practice makes a Man perfect' के अनुसार प्रायोगिक कार्य करने वाले अनुभवी ज्ञानी होते हैं। अनुभव (अनु + भव) के अनुसार होने के पश्चात् जो ज्ञान होता है वह अनुभव ज्ञान है। जैसे कि शक्कर खाने के बाद जो ज्ञान कम समय में होता है वह ज्ञान शक्कर के बारे में बहुत समय तक पुस्तकों से पढकर, सुनकर, भाषण देकर या शोध ग्रन्थ लिखकर भी नहीं हो सकता है। यथा - कुम्हार को जो मिट्टी, चाप-ताप, वातावरण आदि का ज्ञान है ऐसा प्रायोगिक वैज्ञानिक ज्ञान प्रायः एक विश्वविद्यालय के विज्ञान के विद्यार्थी से लेकर प्राचार्य तक में नहीं है। इसी प्रकार कृषक को जो मृदा, बीज, मौसम, खेती, बीज बोना, जल-सिञ्चन, बीज निकालना, अनाज की सुरक्षा आदि का प्रायोगिक ज्ञान है, वैसा ज्ञान कृषि विश्वविद्यालय के विद्यार्थी से लेकर प्राचार्य तक में नहीं है। सद्गृहिणी ममतामयी माता में जो सेवा, प्रेम, परोपकार, भोजन, गृहकार्य सम्बन्धी प्रायोगिक ज्ञान है वैसा ज्ञान गृहविज्ञान के विद्यार्थी से लेकर प्राचार्य तक में तथा नर्स, धाई, प्रबन्धक, शिक्षक, न्यायधीश, वैज्ञानिकों में नहीं है। इसी प्रकार श्रमिक, कुम्हार, जुलाह, बढई, मिस्त्री, सुनार, चित्रकार, मूर्तिकार, शिल्पी, वास्तुकार आदि के बारे में जान लेना चाहिए। इतना ही नहीं एडीसन, न्यूटन, जेम्सवाट आदि वैज्ञानिक रवीन्द्र नाथ ठाकुर आदि चिन्तक-कवि-लेखक तथा महावैज्ञानिक तीर्थङ्कर, बुद्ध आदि भी अनुभवी विशेषज्ञ थे न कि साक्षर।

निष्कर्ष रूप में मेरा अभिप्राय यह है कि केवल लौकिक या धार्मिक साक्षरता, पुस्तकीय रटन्त जानकारी को प्राप्त करके, स्वयं को श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, ज्ञानी, संस्कारवान्, सक्षम, योग्य, धार्मिक रूप में मनमाने रूप से मानकर अहङ्कार करके अपनी प्रगति/उन्नति को नहीं रोकना चाहिए तथा निरक्षरी को अयोग्य, पापी, अज्ञानी मानकर घृणा नहीं करनी चाहिए, उन्हें अपमानित नहीं करना चाहिए, उनका शोषण या उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए। कुछ साक्षरी अच्छे होते हैं तो कुछ निरक्षरी बुरें होते हैं। विशेषतः यह दोष भारत में पाश्चात्य देशों की अपेक्षा अधिक है। विदेश में प्रायोगिक शिक्षा होने से वहाँ के साक्षर व्यक्तियों में भारतीय साक्षरों के जैसे आलस्य, अनुशासन हीनता, भ्रष्टाचार, अस्वच्छता, समय अप्रबन्धन, दया-सेवा-परोपकार की कमी, अकर्मण्यता आदि दुर्गुण कम पाये जाते हैं। भारत के लोग उनके फैशन-व्यसन आदि दुर्गुणों के अन्धानुकरण के बदले में यदि उनके सद्गुणों को अपनायेंगे और भारतीय महान् संस्कृति को स्वीकार करेंगे तब वे यथार्थ से संस्कारवान्, सक्षम, वैज्ञानिक, आधुनिक, प्रगतिशील, उन्नत, महान् बनेंगे। ऐसी भावना से मैं (आ. कनकनंदी) लेखन, प्रवचन, शिविर, कक्षा, संगोष्ठी, प्रतियोगिता आदि का आयोजन गत अनेक (25-30) वर्षों से कर रहा हूँ। **यह सब विषय "तू कहे कागद लिखी मैं कहूँ आँखन देखी" आधार पर आधारित है।**

अनुच्छेद-2

अनन्त–परम सत्य का समग्र उल्लेख तथा उपलब्धि भी संभव नहीं है धार्मिक ग्रन्थ तथा विज्ञान से ?!

(किन्तु सम्भव है सत्य–समता–शान्ति की साधना से)

असीम ब्रह्माण्ड में असंख्यात गेलेस्की, निहारिका, डार्क मैटर, डार्क एनर्जी, ब्लैक होल, सूर्य परिवार, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, धूमकेतु, अनन्त आकाश, अनन्तानन्त भौतिक परमाणु, 23 वर्गणा, अनन्त जीव, असंख्यात कालाणु तथा अनन्त व्यवहार काल, असंख्यात प्रदेशी धर्म द्रव्य (गति माध्यम द्रव्य), असंख्यात प्रदेशी अधर्म द्रव्य (स्थिति माध्यम द्रव्य) तथा उनके अनन्त गुण और अनन्त गुणों की भी अनन्त पर्यायें (अवस्थायें) होती हैं। प्रत्येक गुणों के भी अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद (वह गुणांश जिसके पुनः खण्ड न हो) होते हैं। ऐसे अक्षय अनन्तानन्त द्रव्य–गुण–पर्यायों को तो अनन्तज्ञानी–सर्वज्ञ भगवान् जान सकते हैं परन्तु वर्णन नहीं कर सकते हैं। क्योंकि भाषा में अनन्तशक्ति न होकर सीमित शक्ति होती है। भगवान् जितना बोलते हैं अन्य असर्वज्ञ जीव/ शिष्य उसे पूर्णतः न समझ सकता है न ही लिपिबद्ध कर सकता है।

केवलज्ञान ऐसा एक दिव्यज्ञान है जिसकी तुलना अन्यज्ञान से नहीं की जा सकती। वह ज्ञान अलौकिक अद्वितीय, उपमातीत, छद्मस्थ द्वारा अज्ञेय है। केवली भगवान् क्या जानते हैं? यह सामान्य छद्मस्थ के द्वारा तो अगम्य है, साक्षात् चार ज्ञानधारी, सम्पूर्ण ऋद्धिधारी उनके साक्षात् प्रधान शिष्य, तद्भव मोक्षगामी गणधर भी पूर्ण रूप से नहीं जान सकते हैं। वीरसेन स्वामी ने धवला में एवम् नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कहा है–

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो दु सुदणिबद्धो ।।334गो. जी. भा.11पृ. 569

जो भाव अनभिलाप्य अर्थात् वचन के द्वारा कहने में नहीं आ सकते, केवल केवलज्ञान के ही विषय हैं ऐसे पदार्थ जीवादि के अनन्तवें भाग मात्र प्रज्ञापनीय हैं अर्थात् तीर्थंकर की सातिशय दिव्यध्वनि के द्वारा कहे जाते हैं। पुनः प्रज्ञापनीय जीवादि पदार्थों का अनन्तवाँ भाग द्वादशांग श्रुतस्कन्ध में विषय रूप से निबद्ध होता है। श्रुतकेवलियों के भी अगोचर अर्थ को कहने की शक्ति दिव्यध्वनि में होती है और दिव्यध्वनि से भी अगोचर अर्थ को ग्रहण करने की शक्ति केवलज्ञान में है।

इससे ज्ञात होता है कि श्रुतकेवली (गणधर) के पास भी इतनी ज्ञानशक्ति नहीं है जिससे वे पूर्ण दिव्यध्वनि को समझ सके। यदि वे दिव्यध्वनि को ही पूर्ण रूप से समझ नहीं पाते हैं तो केवली में जो विश्व में सबसे अधिक अनुभाग प्रतिच्छेद वाला केवलज्ञान है उसको कैसे जान सकते हैं? यदि श्रुतकेवली ही नहीं जान सकते हैं तो फिर सामान्य ज्ञानी ही उस ज्ञान का पार कैसे पा सकता है? अर्थात् कभी भी नहीं पा सकता है। परन्तु छद्मस्थ जीव भगवान् की आज्ञा से एवं जिनवाणी के आधार पर

जानते हैं कि सर्वज्ञ भगवान् लोकालोकवर्ती समस्त द्रव्य की भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान पर्यायों को भी जानते हैं। इसलिए वे उस पर श्रद्धान भी करते हैं।

जो सब को नहीं जानता है वह एक को भी नहीं जानता।

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा।।48 स.प्र.

(जो) जो कोई आत्मा (जुगवं) एक समय में (तिक्कालिगे) तीन काल की पयार्यों में परिणमन करने वाले (तिहुवणत्थे) तीन लोक में रहने वाले (अत्थे) पदार्थों को (ण विजाणदि) नहीं जानता है (तस्स) उस आत्मा का ज्ञान (सपज्जयं) अनन्त पर्याय सहित (एकं दव्वं) एक द्रव्य को (वा) भी (णादुं) जानने के लिए (ण सक्कं) नहीं समर्थ होता है।

भाव यह है कि आकाश द्रव्य एक है, धर्म द्रव्य एक है, तथा अधर्म द्रव्य एक है, और लोकाकाश के प्रदेशों के प्रमाण असंख्यात काल द्रव्य हैं, उससे अनन्तगुणे जीवद्रव्य हैं, उससे भी अनन्तगुणे पुद्गल द्रव्य हैं, क्योंकि एक–एक जीवद्रव्य में अनन्त कर्म वर्गणाओं का सम्बन्ध है वैसे ही अनन्त नोकर्मवर्गणाओं का सम्बन्ध है। तैसे ही इन सब द्रव्यों में प्रत्येक द्रव्य की अनन्त पर्यायें होती हैं क्योंकि काल के समय पुद्गल द्रव्य से भी अनन्तानन्त गुणे हैं। यह सब ज्ञेय–जानने योग्य है और इनमें से एक (कोई भी) विशेष जीवद्रव्य ज्ञाता जानने वाला है। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। यहाँ जैसे अग्नि सब जलाने के योग्य ईंधन को जलाती हुई सब जलाने योग्य कारण के होते हुए सब ईंधन के पर्याय में परिणमन करते हुए सर्वमयी एक अग्निस्वरूप हो जाती है अर्थात् वह अग्नि उष्णता में परिणत तृण व पत्तों आदि के आकार अपने स्वभाव को परिणमाती है। तैसे यह आत्मा सर्व ज्ञेयों को जानता हुआ सर्व ज्ञेयों रूप कारण के होते हुए सर्व ज्ञेयाकार की पर्याय में परिणमन करते हुए सर्वमयी एक अखंड़ज्ञान रूप अपने ही आत्मा को परिणमाता है अर्थात् सबको जानता है और जैसे वही अग्नि पूर्व में कहे हुए ईंधन को नहीं जलाती हुई उस ईंधन के आकार रूप नहीं परिणमन होती है तैसे ही आत्मा भी पूर्व में कहे हुए सर्व ज्ञेयों को न जानता हुआ पूर्व में कहे हुए लक्षण रूप सर्व को जानकर एक अखंड़ ज्ञानाकार रूप अपने ही आत्मा को नहीं परिणमाता है अर्थात् सर्व का ज्ञाता नहीं होता। दूसरा भी एक उदाहरण देते हैं। जैसे कोई अंधा पुरुष सूर्य से प्रकाशने योग्य पदार्थों को नहीं देखता, दीपक से प्रकाशने योग्य पदार्थों को न देखता हुआ दीपक को भी नहीं देखता, दर्पण में झलकती हुई परछाई को न देखते हुए दर्पण को भी नहीं देखता, अपनी ही दृष्टि से प्रकाशने योग्य पदार्थों को न देखता हुआ हाथ, पैर आदि अंग रूप अपने ही देह के आकार को अर्थात् अपने को अपनी दृष्टि से नहीं देखता है। तैसे इस प्रकरण में प्राप्त कोई आत्मा भी केवलज्ञान से प्रकाशने योग्य पदार्थों को नहीं जानता हुआ सकल अखंड एक केवलज्ञान रूप अपने आत्मा को नहीं जानता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो सबको नहीं जानता है वह अपने आत्मा को भी नहीं जानता है।

जो एक को नहीं जानता है वह सबको नहीं जानता है–

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि।।49

(जदि) यदि कोई आत्मा (एगं अणंतपज्जयं दव्वं) एक अनन्त पर्यायों के रखने वाले द्रव्य को (ण विजाणदि) निश्चय से नहीं जानता है (सो) वह आत्मा (कधं) किस तरह (सव्वाणि अणंताणि दव्वजादाणि) सर्व अनन्तद्रव्य समूहों को (जुगवं) एक समय में (जाणादि) जान सकता है? अर्थात् किसी तरह भी नहीं जान सकता। विशेष यह है कि आत्मा का लक्षण ज्ञान स्वरूप है। सो अखंड रूप से प्रकाश करने वाला सर्व जीवों में साधारण महासामान्यरूप है। वह महासामान्य ज्ञान अपने ज्ञानमयी अनन्त विशेषों में व्यापक है, वे ज्ञान के विशेष अपने विषय रूप ज्ञेय पदार्थ जो अनन्त द्रव्य और पर्याय हैं उनको जानने वाले, ग्रहण करने वाले हैं। जो कोई अपने आत्मा को अखंड रूप से प्रकाश करते हुए महासामान्य स्वभाव रूप प्रत्यक्ष नहीं जानता है वह पुरुष प्रकाशमान महासामान्य के द्वारा जो अनन्तज्ञान के विशेष व्याप्त हैं उनके विषय रूप जो अनन्त द्रव्य और पर्याय हैं उनको कैसे जान सकता है? अर्थात् किसी भी तरह नहीं जान सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो अपने आत्मा को नहीं जानता है वह सर्व को नहीं जानता है। ऐसा कहा भी है—

एको भावः सर्व–भाव–स्वभावः सर्वे भावा एक–भाव–स्वभावाः।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः ।।

भाव यह है कि एक–भाव सर्व भावों का स्वभाव है और सर्व–भाव एक–भाव के स्वभाव हैं। जिसने निश्चय से यथार्थ रूप से एक भाव को जाना उसने यथार्थ रूप से सर्वभावों को जाना है। यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय सम्बन्ध लेना चाहिए, जिसने ज्ञाता को जाना उसने सब ज्ञेयों को जाना ही है।

परमात्म प्रकाश में योगेन्द्र देव ने कहा है कि हे ! योगी तुम स्वात्मा को जानो जिससे तुम संपूर्ण विश्व को जान सकते हो क्योंकि अनन्तज्ञान अनुभाग प्रतिच्छेद से युक्त स्वात्मा में संपूर्ण विश्व हस्तामलकवत् प्रतिभासित होता है। यथा—

जोइय अप्पे जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ ।
अप्पहँ केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ।। 99 परमात्म प्रकाश पृ 93

हे योगी! एक अपने आत्मा के जानने से यह तीन लोक जाना जाता है क्योंकि आत्मा के भावरूप केवलज्ञान में यह लोक प्रतिबिंबित हुआ, बस रहा है।

वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यैः
उदरमुपनिविष्टा सा च ते वा परस्य ।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे विलीनं
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु ।। 219 आत्मानुशासन, पृ. 203

जिस पृथिवी के ऊपर सब ही पदार्थ रहते हैं वह पृथिवी भी दूसरों के द्वारा घनोदधि, घन और तनु वातवलयों के द्वारा धारण की गई है। वह पृथिवी और वे तीनों ही वातवलय भी आकाश के मध्य में प्रविष्ट हैं और वह आकाश भी केवलियों के ज्ञान के एक कोने में विलीन है। ऐसी अवस्था में यहाँ दूसरा अपने से अधिक गुणवालों

के विषय में कैसे गर्व धारण करता है?

छद्मस्थ व्यक्ति अल्पज्ञ होने के कारण द्रव्य की कुछ पर्यायों को जान सकता है परन्तु सर्वज्ञ अनन्त ज्ञानी होने से सम्पूर्ण द्रव्य की सम्पूर्ण पर्यायों को जानते हैं। दिगम्बर महाश्रमण आचार्य उमास्वामि ने कहा भी है—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्व पर्यायेषु । त. सूत्र अ.1,सूत्र 26

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति कुछ पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती है।

रूपिष्ववधेः ।। 27 ।। (तत्त्वार्थ सूत्र अ. 1)

अवधि ज्ञान की प्रवृत्ति रूपी पदार्थों में होती है।

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ।। 28 ।। (तत्त्वार्थ सूत्र अ. 1)

मनःपर्ययज्ञान की प्रवृत्ति अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग में होती है।

सर्वद्रव्य पर्यायेषु केवलस्य ।। 29 ।।(तत्त्वार्थ सूत्र अ. 1)

केवल ज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों में होती है।

इसी सत्य को जानने के लिए तर्क कुछ हद तक मदद करता है, परन्तु पूर्ण सत्य तक तर्क का प्रवेश नहीं। जैसे पानी का जहाज एक भू–भाग के पास तक पहुँचने के लिए सहायक होता है। परन्तु भू–भाग में प्रवेश के लिए उसे त्याग करना अनिवार्य है। अमृतचंद्र सूरि, समयसार कलश में बताते हैं कि–

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं, क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।
(समयसार कलश।।9

जहाँ पर पूर्ण सत्य (परम ब्रह्म आत्मा) का साक्षात्कार होता है या जहाँ पर पूर्ण सत्य है, वहाँ पर नय श्री (आंशिक सत्य) का उदय नहीं होता है, प्रमाण अस्तगत (विकल्प शून्य) हो जाता है। निक्षेप समूह का असद्भाव हो जाता है। अधिक क्या वहाँ पर केवल एक अद्वैत सत्य ही प्रकाशमान रहता है, द्वैतभाव विलीन हो जाता है। अर्थात् पूर्ण सत्य, स्वयंसिद्ध, स्व–प्रतिष्ठित, स्वावलम्बी, स्वतंत्र, पर निरपेक्ष एवं तर्क के अगोचर है। उपनिषद में भी कहा है– **"यस्मात् निवर्तते वचनं मनसा सह"** उस सत्य का प्रतिपादन वचनातीत है। यहाँ तक कि क्षुद्र शक्तिधारी मन का भी प्रवेश सत्य में नहीं हो सकता है। केवल सत्य का साक्षात्कार अनुभव के माध्यम से होता है।

विज्ञानमिन्द्रियज्ञानं, दर्शनञ्चापि मानसम् ।
धर्म आध्यात्मिकः प्रोक्त सूक्ष्मोह्यैष परंपरम्।। 12 ।। कनकनन्दी

विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान इन्द्रिय उपज है, दर्शन सम्बन्धी ज्ञान मानसिक उपज है परन्तु धर्म आत्मा से अनिसृत है और परस्पर उत्तरोत्तर सूक्ष्म से सूक्ष्म है।

विज्ञानं भौतिकं लोकं, दर्शनं चापि मानसम् ।
सर्वं क्षेत्रं तथा कालं, धर्मो व्याप्नोति केवलम्।। 13।। कनकनन्दी

विज्ञान की परिसीमा दैहिक एवं लौकिक है, दर्शन की परिसीमा मानसिक लोक है, परन्तु धर्म सर्व क्षेत्र, सर्व कालव्यापी, सार्वभौमिक, असीम तत्त्व है।

यांत्रिकेन्द्रिय प्रत्यक्षं, ज्ञानं सत्यं हि अंशिकम् ।

पूर्ण सत्यं न विज्ञानं ...पनना चाहिए।

यंत्र एवं इन्द्रिय के माध्...

आंशिक सत्य है। विज्ञान सार्वका... ।।63

ज्ञेय (जानने योग्य वस्... के बिना वेद से, शास्त्र

ज्ञान भी अनन्त होना चाहिए।

आदा णाणंप्पमाणं
णेयं लोया लोयं

आत्मा ज्ञान प्रमाण... रोग नहीं

है, इसीलिए ज्ञान सर्वव्याप... रु नहीं

सत्य (ज्ञेय) अनन्त एवं स...

साक्षात्कार करने के लिए अनन्त ज्ञान रूपी प्रकाश चा...

इन्द्रिय एवं यांत्रिक शक्ति अत्यन्त सीमित होने के कारण स... विश्वव्यापी पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता है, जैसे एक छोटा सा दीपक कुछ सीमित क्षेत्र को प्रकाशित कर सकता है, किन्तु सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित नहीं कर सकता है। इसलिए असर्वज्ञ जीव पूर्ण सत्य को नहीं जान सकता है।

आधुनिक महावैज्ञानिक आइन्स्टीन ने भी कहा है–

Einstein says- We can only know the relative truth. the real truth is known only to the universal observer"

हम लोग केवल सापेक्ष सत्य को जान सकते हैं, परन्तु सम्पूर्ण सत्य को केवल विश्वदर्शी ही जान सकते हैं। आइन्स्टीन की अपेक्षा सर्वदर्शी निम्नोक्त जीव ही हो सकता है।

Universal observer of Einstein is none else but the Almighty (Sarvajna Deva) with infinite powers of knowledge and bliss. (Cosmology--Old and new)

"जो सर्वशक्तिमान अनन्तज्ञानशक्ति एवं सुख सम्पन्न है, वही सर्वदर्शी सर्वज्ञ है।'

प्रत्येक जीव स्वभावतः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि अनन्त गुणों का स्वामी है, परन्तु प्रतिपक्षीभूत कर्मों के कारण अनन्त ज्ञान आदि तिरोहित है। जैसे–बादल से सूर्य रश्मि ढक जाती है परन्तु बादल हट जाने के पश्चात् सूर्य रश्मियाँ सर्वत्र फैल जाती हैं, उसी प्रकार कर्मरूपी बादल हट जाने के पश्चात् अनन्त ज्ञानादि रश्मियाँ सम्पूर्ण लोकालोक में फैल जाती हैं।

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेणं णियेणावच्छण्णो।
संसार समावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ।। 160।।
(समयसार, पुण्य–पाप अधिकार)

वह सर्वदर्शी सर्वज्ञ जीव नियम से, कर्म से आच्छादित होकर संसार में पतित हुआ है। इस प्रतिपक्षीभूत कर्म के कारण मलिन आत्मा सर्वदा, सर्वद्रव्य को पूर्ण रूप से नहीं जान सकता है।

अनुच्छेद-3

केवल धार्मिक ग्रन्थों से परम सत्य की उपलब्धि असंभव

सम्यक् श्रद्धा एवं सम्यक् चारित्र रहित विपुल मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान से मोक्ष नहीं हो सकता है। इतना ही नहीं मोक्ष के साधक रूप श्रमण भी नहीं हो सकता है। इस बात का कुन्दकुन्द स्वामी ने भावप्राभृत में सोदाहरण निम्न प्रकार से वर्णन किया है–

अंगाइं दस य दुण्णि य चउदस पुव्वाइं सयल सुयणाणो।
पढ़िओ अभव्वसेणो ण भाव सवणत्तणं पत्तो ।।52 भावप्राभृत

द्वादशांग एवं चतुर्दशपूर्वात्मक सकल श्रुतज्ञान को पढ़कर भी भव्यसेन मुनि भावश्रमण नहीं हुए थे। भव्यसेन मुनि सम्यग्दर्शन से रहित होने के कारण वह केवल श्रुतज्ञान को केवल शब्द से एवं अर्थ से पढ़े थे किन्तु भावात्मक रूप से अनुभव नहीं किये थे। शब्द और अर्थ से भी पूर्ण द्वादशांग का अध्ययन नहीं किये थे किन्तु एकादश अंग का पठन किये थे।

द्वादशांग तथा चतुर्दश पूर्व का अध्ययन अभव्य मिथ्यादृष्टि नहीं कर सकता है। सकल श्रुतज्ञान का अध्ययन करने वाला महामुनीश्वर, श्रुतकेवली, गणधर या सौधर्म इन्द्र, सर्वार्थसिद्धि के देव आदि परीत संसारी जीव हो सकते हैं। कहा भी है–

आध्यात्मिक शब्दज्ञान जीव को मोक्ष प्राप्त कराने के लिए अकिञ्चित्कर है। इस सिद्धान्त को जैन आध्यात्मिक साधक के साथ–साथ जैनेतर साधकों ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—

वीणाया रूप सौन्दर्य तन्त्रीवादन सौष्ठवम्।
प्रजारञ्जन मात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते।।59 विवेक चूड़ामणि
वाग्वैश्वरी शब्द झरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ।।60

जिस प्रकार वीणा का रूप लावण्य तथा तंत्री को बजाने का सुन्दर ढंग मनुष्यों के मनोरंजन का ही कारण होता है, उससे कुछ साम्राज्य की प्राप्ति नहीं हो जाती, उसी प्रकार विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दों की धारावाहिकता, शास्त्रव्याख्यान की कुशलता और विद्वत्ता भोग का ही कारण हो सकती है, मोक्ष का नहीं।

अविज्ञाते परे तत्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।
विज्ञातेऽपि परे तत्वे शास्त्रधीतिस्तु निष्फला।।61

परम तत्त्व को यदि न जाना तो शास्त्राध्ययन निष्फल (व्यर्थ) ही है, और यदि परम तत्त्व को जान लिया तो शास्त्राध्ययन निष्फल (अनावश्यक) ही है।

शब्दजालं महारण्यं, चित्त भ्रमण कारणम्।
अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञातत्त्वमात्मनः।।62

शब्दजाल तो चित्त को भटकाने वाला एक महान् वन है, इसलिए किन्हीं

तत्त्वज्ञानी महात्मा से प्रयत्नपूर्वक आत्म तत्त्व को जानना चाहिए।

अज्ञान सर्पदष्टस्य ब्रह्मज्ञानौषधं विना।
किमु वैदैश्च शास्त्रैश्च किमु मंत्रैः किमौषधैः।।63

अज्ञान रूपी सर्प से डँसे हुए को ब्रह्मज्ञान रूपी औषधि के बिना वेद से, शास्त्र से, मन्त्र से और औषध से क्या लाभ ?

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः।
विनापरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते।।64

औषधि को बिना पिये केवल औषधि–शब्द के उच्चारण मात्र से रोग नहीं जाता, इसी प्रकार अपरोक्षानुभव के बिना केवल "ब्रह्म–ब्रह्म" कहने से कोई मुक्त नहीं हो सकता।

अकृत्वा शत्रुसंहारमगत्वाखिल भूश्रियम्।
राजाहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति।।66

बिना शत्रुओं का वध किये और बिना सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल का ऐश्वर्य प्राप्त किये, मैं राजा हूँ– ऐसा कहने से ही राजा नहीं हो जाता।

केवल बौद्धिक या शास्त्रीय ज्ञान से चारित्र न होने पर मोक्ष प्राप्ति तो अत्यन्त दूर है किन्तु सुगति भी प्राप्त होना दुष्कर है। कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा भी है–

जहं विसय लोलएहिं णाणीहिं हविज्ज सहिदो मोक्खो।
तो सो सच्चइ पुत्तो दस पुव्वीओ वि किं गदो णरय।।30 शी. पा.

यदि विषय कषाय से लिप्त होते हुए ज्ञान से ही मोक्ष होता है तो बताओ दश पूर्व के ज्ञाता सात्यकी पुत्र क्यों नरक गया? कहने का भावार्थ यह है कि सात्यकी का पुत्र ज्ञानी होते हुए भी विषयों में रत होने के कारण मोक्ष की प्राप्ति तो दूर ही रही सुगति भी नहीं मिली परन्तु उनको नरक जाना पड़ा। इसलिए विपुल प्रकाण्ड बौद्धिक एवं शास्त्रीय ज्ञान मोक्ष के लिए विशेष सहकारी नहीं है–

बहुयईं पढ़ियइँ मूढ़ पर, तालु सुक्कइ जेण।
एक्कजु अक्करू तं पढ़हु सिवपुरी गम्मइ जेण।।

रे मूढ़! बहिरात्मन बहुत ही शास्त्र का पठन किया जिसमें तालू सूख गया परन्तु शाश्वतिक सुख या आत्मज्ञान नहीं मिला। अभी तू अन्तरात्मा होकर एक भी अक्षर पढ़ जिससे तुमको शिवपुर की गति मिले। कबीरदास ने कहा है—

पोथी पढ़–पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का (आत्मा) पढे सो पंडित होय।।
जो णवि जाणइ अप्पु परु णवि भाई चएइ।
सो जाणउ सत्थेइ सयल ण हु सिव सुक्खु लहेइ।।96 योगसार

जो न तो परमात्मा को जानता है और न परभाव का त्याग ही करता है, वह भले ही समस्त शास्त्रों को जान जाए, परन्तु वह मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं करता। इससे विपरीत अल्पज्ञ भी चारित्र एवं भावशुद्धि के माध्यम से संपूर्ण कर्मबन्धनों का विध्वंस करके शुद्ध–बुद्ध, नित्य–निरंजन पदवी को प्राप्त किये है।

तुसमासं घोसंतो भाव विसुद्धो य महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ।। 53 भाव पाहुड

शिवभूति नामक एक अल्पज्ञ मुनि तुस मास रटते हुए सच्चारित्र रूप भाव विशुद्धि से सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गये।

आगम में ऐसे अनेकों प्रमाण मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि अनेक मुनीश्वरों को णमोकार मन्त्र भी नहीं आता था। इतना ही नहीं गुरु प्रदत्त "मा रूसह मा तूसह" शब्द का भी ज्ञान नहीं था तो भी निर्मल चारित्र रूप भाव विशुद्धि से श्रेणी आरोहण करके लोकालोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान रूप सूर्य को प्राप्त कर गए, परन्तु सच्चारित्र के बिना सर्वार्थसिद्धि के देव जो कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि, बाल–ब्रह्मचारी एवं सतत तत्व चिन्तन करने वाले 33 सागर तक आत्मचिन्तन करते हुए भी मोक्ष की तो बात दूर है किन्तु देशव्रत रूप श्रावकावस्था तथा सर्व विरति रूप मुनि अवस्था को भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

उपरोक्त प्रतिपादन से यह सिद्धान्त प्रतिफलित नहीं होता है कि मोक्षमार्ग में सम्यक्ज्ञान का योगदान कुछ है ही नहीं परन्तु जो ज्ञान को प्राप्त करके तदनुकूल आचरण नहीं करता है उसके लिए मोक्ष प्राप्ति के निमित्तभूत यह ज्ञान विशेष कार्यकारी नहीं है। कुन्दकुन्द देव ने कहा है—

णाणस्स णत्थि दोसो कुप्पुरिसाणो वि मंद बुद्धिणो।
जे णाणगव्विदा हऊणं विसएसु रज्जन्ति ।।10 शील पाहुड़

जो कुपुरुष मन्द बुद्धिजन ज्ञान से गर्वित होकर विषयों में रचता, पचता है उसमें ज्ञान का कोई दोष नहीं है।

विसयेसु मोहिदाणं कहियं मग्गं पि इठ्दरिसीणं ।
उम्मग्गं दरसीणं णाणं णिरत्थयं तेसिं ।। 23 शील पाहुड

जो विषयों में मोहित है, जो उन्मार्गगामी इष्टदर्शी द्वारा कथित मार्ग के ज्ञान के ज्ञाता होते हुए भी उनका ज्ञान निरर्थक है।

जदि पडसि दीवहत्थो अवडे किं कुणदि तस्स सो दीवो ।
जदि सिकिखऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलम्।।

हस्त में दीपक होते हुए भी और कुएँ को देखते हुए भी जो कुएँ में गिरता है उसके हस्त में स्थित दीपक क्या कर सकता है ? क्या गिरते हुए मनुष्य को दीपक बचा सकता है ? कदापि नहीं। अथवा दीपक हस्त मनुष्य कुएँ में गिरने पर दीपक का कोई दोष होगा ? कदापि नही होगा। इसी प्रकार जो ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करके भी ज्ञानानुसार आचरण नहीं करता, उसकी शिक्षा के ज्ञान का क्या फल रहा ? अर्थात् कोई नहीं।'

बहुगंपि सुदमधदिं किं काहदि अजाण माणस्स।
दीव विसेसो अंधे णाण विसेसो वि तह तस्स।।

जो आत्मज्ञान से रहित है वह बहुश्रुत का अध्ययन करने पर भी क्या करेगा? जैसे– अन्धे के लिए दीपक कोई विशेष कार्यकारी नहीं है उसी प्रकार वीतराग चारित्र

अविनाभावी वीतराग ज्ञान या चारित्र सम्पन्न ज्ञान रहित उसका विपुल श्रुतज्ञान क्या करेगा ?

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृत्तः।
अंगारवत् खलौ दीप्ते मली वा भस्म वा भवेत्।।76 आत्मानुशासन

शास्त्र रूप अग्नि में प्रविष्ट हुआ भव्य जीव तो मणि के समान विशुद्ध होकर मुक्ति को प्राप्त करता हुआ शोभायमान होता है। किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव (अभव्य) उस शास्त्र रूप अग्नि में प्रदीप्त होकर मलिन व भस्म स्वरूप हो जाता है।

यस्य नास्ति विवेकस्तु केवलं यो बहुश्रुतः।
न स जानाति शास्त्रार्थान् दर्वी पाक रसानिव।।

जो हिताहित विवेक से रहित होकर बहुश्रुतज्ञ है वह शास्त्रों के रहस्य को नहीं जान सकता है। जैसे– चम्मच विभिन्न रस युक्त व्यञ्जनों से लिप्त होने पर भी रस को नहीं जान सकता है। इसीलिए कौटिल्य (चाणक्य) ने भी कहा है–

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्र तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति।।

जिसकी स्वयं की प्रज्ञा शक्ति नहीं है उसके लिए शास्त्र क्या कर सकता है ? जिसकी दृष्टि शक्ति नहीं है उसके लिए दर्पण क्या करता है ? अर्थात् अंधा व्यक्ति स्वच्छ से स्वच्छ बड़े से बड़े दर्पण में अपना मुख नहीं देख सकता है, उसी प्रकार विषयान्ध व्यक्ति आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता है क्योंकि विषय वासना रूपी घन परदा उनके प्रज्ञारूप चक्षु को आवृत्त करके रखती है।

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धी कृते क्षणः।
चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित्।।35 आत्मानुशासन

जिसके नेत्र इन्द्रिय विषयों के द्वारा अन्धे कर दिये गये हैं अर्थात् विषयों में मुग्ध रहने से जिसकी विवेक बुद्धि नष्ट हो चुकी है ऐसा यह प्राणी उस प्रसिद्ध अन्धे से भी अधिक अन्धा है, क्योंकि अन्धा प्राणी तो केवल चक्षु के ही द्वारा नहीं जान पाता है, परन्तु वह विषयान्ध मनुष्य इन्द्रियों और मन आदि में से किसी के द्वारा भी वस्तु स्वरूप को नहीं जान पाता है।

ऐसा यह प्राणी उस प्रसिद्ध अन्धे से भी अधिक अन्धा है, क्योंकि अन्धा प्राणी तो केवल चक्षु के ही द्वारा नहीं जान पाता है, परन्तु वह विषयान्ध मनुष्य इन्द्रियों और मन आदि में से किसी के द्वारा भी वस्तु स्वरूप को नहीं जान पाता है।

1. पुस्तकें मन के लिए साबुन का कार्य करती हैं। **(महात्मा गांधी)**
2. पुस्तकों का संकलन ही आज के युग का वास्तविक विद्यालय है। **(कालइिल)**
3. पुस्तक एक उपवन, एक फलवाटिका, एक भंडार, एक प्रीतिभोज, एक संगिनी होती है, वैसे ही एक सलाहकार भी। **(बीचर)**
4. पुस्तकें जाग्रत देवता हैं, उनकी सेवा करके तत्काल वरदान प्राप्त किया जा सकता है। **(रामप्रताप त्रिपाठी)**

अनुच्छेद-4

परम सत्य की उपलब्धि के परमोपाय

शुद्धात्म तत्त्व के वास्तविक स्वरूप जो कि समयसार नाम से कहा जाता है वह है तो इन दोनों पक्षों से भिन्न प्रकार का ही है, क्योंकि व्यवहार नय के कहने के अनुसार जीव कर्मों से बँधा हुआ है जो कि शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है और निश्चय नय से जीव कर्मों से अबद्ध है। वह भी नय का विकल्प है जो कि शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है। इसलिए निश्चय और व्यवहार के द्वारा जीव को बद्ध और अबद्ध कहना यह जीव मात्र का स्वरूप नहीं है। यह नय का विकल्प है। नय जितने भी होते हैं वह सब श्रुतज्ञान के विकल्प रूप होते हैं वह सिद्धान्त की बात है। और श्रुतज्ञान है सो क्षायोपशमिक है। वह क्षयोपशम ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होने के कारण यद्यपि व्यवहारनय के द्वारा छद्मस्थ जीव की अपेक्षा से जीव का स्वरूप होता है तथापि केवलज्ञान की अपेक्षा से वह शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है। तब फिर जीव का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न के होने पर आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं। नय के पक्षपात से रहित जो स्वसंवेदन ज्ञानी जीव हैं उसके विचारानुसार जीव का स्वरूप बद्धाबद्ध या मूढ़ामूढ़ आदि नय के विकल्पों से रहित चिदानन्द स्वरूप होता है।

य एव मुक्ता नयपक्ष पातं स्वरूप गुप्ता निवसंति नित्यं।
विकल्प जाल च्युत शांत चित्तस्तएव साक्षादमृतं पिबंति।।68

जो लोग नय (आंशिक ज्ञान) के पक्षपात को छोड़कर सदा अपने आप के स्वरूप में तल्लीन रहते हैं एवं सभी प्रकार के विकल्प जाल से रहित शांतचित्त वाले होते हैं वे लोग ही साक्षात् अमृत का समयसार (स्वशुद्धात्मसार) का पान करते हैं।

एकस्य बध्दो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।69

जीव व्यवहार नय की अपेक्षा से बद्ध होता है और निश्चय नय की अपेक्षा से वह बद्ध नहीं होता है। अतः इन दोनों नयों के विचार में अपना-अपना पक्षपात है। इसलिये पक्षपात रहित तत्त्ववेदी पुरुष के ज्ञान में चेतन-चेतन ही है।

समयाख्यानकाले या बुद्धिर्नयद्वयात्मिक ।
वर्तते बुद्धतत्त्वस्य सा स्वस्तस्य निवर्तते ।
हेयोपादेयतत्त्वे तु विनिर्णित्व नयद्वयात् ।
त्यक्त्वा हेयमुपादेयेवस्थानं साधुसम्मतं।।स. सा. जयसेनाचार्य ता. वृ.

आगम के व्याख्यान के समय मनुष्य की बुद्धि निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों को लेकर चलती है। किन्तु तत्त्व को जान लेने के बाद स्वस्थ हो जाने पर ऊहापोहात्मक बुद्धि दूर हो जाती है। निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के द्वारा हेय और उपादेय तत्त्व का निर्णय कर लेने पर हेय का त्याग करके उपादेय तत्त्व में लगे रहना साधु-संतों को अभीष्ट है।

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयाणीन्द्रियाणि च।
आत्मन्येव स्थितो यस्त स याति परमां गतिम्।।1

नामगोत्रादिवरणं देश काल श्रुतं कुलम्।
वयो व्रतं व्रतंशील ख्यायन्नैव सद्यतिः ।।21 उपनिषद् पृ.327

जो सन्यासी लोक, वेद, विषयों के भोग और इन्द्रियों का आश्रय छोड़कर आत्म स्थित रहता है वह परम गति को पाता है। संन्यासी अपने नाम, गोत्र, कुल, देश-काल, अवस्था, शील, व्रत, शास्त्र-ज्ञान आदि के सम्बन्ध में किसी से वार्ता न करे।

अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
अनौद्धत्यमदीनत्वं प्रसादा स्थैर्यमार्जवम्।।10
अस्नेहो गुरूशुश्रूषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः।
उपेक्षा धैर्यमाधुर्ये तितिक्षा करुणा तथा।।11
ह्रीस्तथा ज्ञानविज्ञाने योगा लघ्वश्नं धृतिः।
एष स्वधर्मो विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम्।।12 उपनिषद् पृ. 327

अहिंसा भाव, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनौद्धत्य शान्ति, प्रसन्नता, स्थिरता, सरलता, स्नेहाभाव, गुरू-सेवा, श्रद्धा, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, उदासीनता, धीरता, मधुरता, सहन-शीलता, करूणा, लज्जा, धारणा, स्वल्पाहार और ज्ञान-विज्ञान-परायणता-संन्यासी के लिए यह धर्मरूप से पालनीय है।

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो न करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु।।274 समयसार

प्रथम तो अभव्य जीव निश्चयतः शुद्ध ज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से शून्य होने से मोक्ष का ही श्रद्धान नहीं करता इस कारण अभव्य जीव ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं करता। और ज्ञान का श्रद्धान न करने वाला अभव्य आचारांग को आदि लेकर ग्यारह अंग रूप श्रुत को पढ़ता हुआ भी शास्त्र पढ़ने के गुण के अभाव से ज्ञानी नहीं होता। शास्त्र पढ़ने का गुण यह है कि भिन्न वस्तुभूत ज्ञान को नहीं श्रद्धान करने वाले अभव्य के शास्त्र के पढ़ने से विविक्त वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मज्ञान प्राप्त किया जाना शक्य नहीं। इसी कारण उसके शास्त्र पढ़ने का जो भिन्न आत्मा का जानना गुण है, वह नहीं है और इस कारण वह ज्ञानी नहीं है और इस कारण सच्चे ज्ञान श्रद्धान के अभाव से वह अभव्य अज्ञानी ही है यह निश्चित है। भावार्थ- अभव्य जीव ग्यारह अंग भी पढ़ ले तो भी उसके शुद्ध आत्मा का ज्ञान श्रद्धान नहीं होता इस कारण उसके शास्त्र को पठन से गुण नहीं हुआ। इसी कारण वह अज्ञानी ही है।

सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोग णिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयनिमित्तं।।275 स.सा.

अभव्य जीव नित्य ही कर्म और कर्मफलचेतनारूप वस्तु की श्रद्धा करता है, परन्तु नित्य ज्ञानचेतनामात्र वस्तु का श्रद्धान नहीं करता, क्योंकि अभव्य जीव नित्य ही स्व-पर के भेद ज्ञान के योग्य नहीं है। इस कारण वह अभव्य कर्मक्षय के निमित्तभूत ज्ञानमात्र भूतार्थ धर्म को श्रद्धान नहीं करता, परन्तु भोग के निमित्तभूत शुभ कर्ममात्र असत्यार्थ धर्म को ही श्रद्धान करता है। इस कारण यह अभव्य अभूतार्थ धर्म का श्रद्धान, प्रतीति, रूचि, स्पर्शन के द्वारा ऊपर के ग्रैवेयक तक के भोगमात्रों को पाता है, परन्तु कर्म से कभी नहीं छूटता। इसलिए इसके सत्यार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से

सच्चा श्रद्धान भी नहीं है। ऐसा होने पर निश्चयनय के सिद्धान्त में व्यवहारनय का निषेध युक्त ही है। भावार्थ– अभव्य जीव कर्मचेतना व कर्मफलचेतना को जानता है, परन्तु ज्ञानचेतना को नहीं जानता, क्योंकि अभव्य के भेदज्ञान होने की योग्यता नहीं है, इस कारण इसके शुद्ध आत्मीय धर्म का श्रद्धान नहीं है। यह तो शुभ कर्म को ही धर्म समझकर श्रद्धान करता है सो मंद कषाय सहित यदि द्रव्यमहाव्रत पालन कर ले तो उसका फल ग्रैवेयक तक के भोग पाता है, परन्तु कर्म का क्षय नहीं होता। इस कारण इसके सत्यार्थ धर्म का भी श्रद्धान नहीं कहा जा सकता, इसी से निश्चयनय के सिद्धान्त में व्यवहारनय का निषेध है।

आयारादि णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो।।276
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो।।277

आचारांग आदि शब्दश्रुत ज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञान का आश्रय है। जीव आदि नव पदार्थ दर्शन हैं, क्योंकि ये दर्शन के आश्रय हैं। और छः जीवनिकाय याने छह काय के जीवों की रक्षा चारित्र है, क्योंकि यह चारित्र का आश्रय है। यह तो व्यवहार है। शुद्ध आत्मा ज्ञान है, क्योंकि ज्ञान का आश्रय आत्मा ही है। शुद्ध आत्मा ही दर्शन है, क्योंकि दर्शन का आश्रय आत्मा ही है। शुद्ध आत्मा ही चारित्र है, क्योंकि चारित्र का आश्रय आत्मा ही है। यह निश्चय है। आचारांग आदिक को ज्ञानादिक के आश्रयपने का व्यभिचार है याने आचारांग आदिक तो हों, परन्तु ज्ञानादिक नहीं भी हो, इसीलिए व्यवहारनय प्रतिषेध करने योग्य है, परन्तु निश्चयनय में शुद्ध आत्मा के साथ ज्ञानादिक के आश्रयत्व का ऐकान्तिकपना है। जहाँ शुद्ध आत्मा है वहाँ ही ज्ञान दर्शन चारित्र है, इसीलिए व्यवहारनय का निषेध करने वाला है। यही अब स्पष्ट करते हैं– आचारादि शब्दश्रुत एकान्त से ज्ञान का आश्रय नहीं है, क्योंकि आचारांगादिक का अभव्य जीव के सद्भाव होने पर भी शुद्ध आत्मा का अभाव होने से ज्ञान का अभाव है। जीव आदि नौ पदार्थ दर्शन का आश्रय नहीं है, क्योंकि अभव्य के उनका सद्भाव होने पर भी शुद्धात्मा का अभाव होने से दर्शन का अभाव है। छहकाय के जीवनिकाय याने जीवों की रक्षा चारित्र का आश्रय नहीं है, क्योंकि उसके मौजूद होने पर भी अभव्य के शुद्धात्मा का अभाव होने से चारित्र का अभाव है। शुद्ध आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है, क्योंकि आचारांगादि शब्दश्रुत का सद्भाव होने पर या असद्भाव होने पर शुद्ध आत्मा के सद्भाव से ही ज्ञान का सद्भाव है। शुद्ध आत्मा ही दर्शन का आश्रय है, क्योंकि जीवादि पदार्थों का सद्भाव होने व न होने पर भी शुद्ध आत्मा ही दर्शन का सद्भाव है। शुद्ध आत्मा ही चारित्र का आश्रय है, क्योंकि छह काय के जीवनिकाय का याने जीवों की रक्षा का सद्भाव होने तथा असद्भाव होने पर भी शुद्धात्मा के सद्भाव से ही चारित्र का सद्भाव है।

आचारांगादि शब्दश्रुत का ज्ञान कर लेना, जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना तथा छह काय के जीवों की रक्षा कर लेना, इन सबके होने पर भी अभव्य के सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र नहीं होते इस कारण व्यवहारनय तो प्रतिषेध्य है। किन्तु शुद्धात्मा के होने पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र होते ही हैं, इस कारण निश्चयनय इस व्यवहार का प्रतिषेधक है, अतः शुद्धनय उपादेय बताया गया है।

रायह्मि य दोसह्मि य कसाय कम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणोवि।।281 समयसार

यथोक्त वस्तुस्वभाव को नहीं जानता हुआ अज्ञानी अपने शुद्ध स्वभाव से अनादि संसार से लेकर च्युत हुआ ही है इस कारण कर्म के उदय से हुए जो राग–द्वेष–मोहादिक भाव हैं उनसे परिणमता अज्ञानी राग–द्वेष–मोहादिक भावों का कर्त्ता होता हुआ कर्मों से बंधता ही है, ऐसा नियम है।

रायह्मि य दोसह्मि य कसाय कम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा।।282

वास्तव में जो ये अज्ञानी के पुद्गलकर्म के निमित्त से हुए राग–द्वेष–मोह आदि भाव हैं वे ही परिणाम फिर राग–द्वेष आदि परिणाम के निमित्तभूत पुद्गलकर्म बंध के कारण होते हैं।

सत्थं णाणं ण हवइ जह्मा सत्थं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति।।390 समयसार
सद्दो णाणं ण हवइ जह्मा सद्दो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति।।391

द्रव्यश्रुत ज्ञान नहीं है, क्योंकि वचन अचेतन हैं, इस कारण ज्ञान और श्रुत में भेद है। शब्द ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द अचेतन है, इस कारण ज्ञान और शब्द में भेद है।

णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जह्मा।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं।।402
जह्मा जाणइ णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणओ णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं।।403
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भवंति बुहा।।404 समयसार

अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान अचेतन है, इस कारण ज्ञान और अध्यवसान में भेद है। इस प्रकार यों ज्ञान का समस्त परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक निश्चयसाधित देखना चाहिए याने अनुभवना चाहिये। यों अब देखिये–जीव ही एक ज्ञान है; क्योंकि जीव चेतन है, इसलिए ज्ञान और जीव में अभेद है। स्वयं ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञान का जीव के साथ व्यतिरेक कुछ शंकनीय नहीं है। ऐसा होने पर ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वगत सूत्र है। तथा ज्ञान ही धर्म अधर्म है, ज्ञान ही दीक्षा है अथवा निश्चयचारित्र है। इस तरह जीव का पर्यायों के साथ भी अभेद निश्चयसाधित देखना चाहिये।

अनुच्छेद-5

निश्चय से आत्मज्ञ ही श्रुतकेवली न कि द्रव्यश्रुतज्ञान से

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा।।33 प्रवचनसार

He who clearly understands the self as of the nature of the knower on the authority of the scriptural knowledge, is called a Shrutakevalin by the sages that enlighten the world.

आगे कहते हैं कि जैसे सर्व आवरण रहित सर्व को प्रकट करने वाले लक्षण को धारने वाले केवलज्ञान से आत्मा का ज्ञान होता है तैसे आवरण सहित एकदेश प्रकट करने वाले लक्षण को धरने वाले तथा केवलज्ञान की उत्पत्ति का बीजभूत स्वसंवेदन ज्ञानमयी भाव श्रुतज्ञान से भी आत्मा का ज्ञान होता है अर्थात् जैसे केवलज्ञान से आत्मा का जानपना होता है वैसा श्रुतज्ञान से भी आत्मा का ज्ञान होता है। आत्मज्ञान के लिए दोनों ज्ञान बराबर हैं। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि जैसे केवलज्ञान प्रमाण रूप है तैसे ही केवलज्ञान द्वारा दिखलाए हुए पदार्थों को प्रकाश करने वाला श्रुतज्ञान भी परोक्ष प्रमाण है। इस तरह दो पातनिकाओं को मन में रखकर आगे का सूत्र कहते हैं–

(जो) जो कोई पुरुष (हि) निश्चय से (सुदेण) निर्विकार स्वसंवेदन रूप भाव–श्रुत परिणाम के द्वारा (सहावेण) समस्त विभावों से रहित स्वभाव से ही (जाणगं) ज्ञायक अर्थात् केवलज्ञानरूप (अप्पाणं) निज आत्मा को (विजाणदि) विशेष करके जानता है अर्थात् विषयों के सुख से विलक्षण अपने शुद्धात्मा की भावना से पैदा होने वाले परमानन्दमयी एक लक्षण को रखने वाले सुख रस के आस्वाद से अनुभव करता है। (लोयप्पदीवयरा) लोक के प्रकाश करने वाले (इसिणो) ऋषि (तं) उस महायोगीन्द्र को (सुयकेवलिं) श्रुतकेवली (भणंति) कहते हैं।

इसका विस्तार यह है कि एक समय में परिणमन करने वाले सर्व चैतन्यशाली केवलज्ञान के द्वारा आदि, अंत रहित, अन्य किसी कारण के बिना दूसरे द्रव्यों में न पाये जाने वाले ऐसे असाधारण अपने आप से अपने में अनुभव आने योग्य परम चैतन्यरूप सामान्य लक्षण को रखने वाले तथा परद्रव्य से रहितपने के द्वारा केवल ऐसे आत्मा का आत्मा में स्वानुभव करने से जैसे भगवान् केवली होते हैं वैसे यह गणधर आदि निश्चय रत्नत्रय के आराधक पुरुष भी पूर्व में कहे हुए चैतन्य लक्षणधारी आत्मा का भाव श्रुतज्ञान के द्वारा अनुभव करने से श्रुतकेवली होते हैं। प्रयोजन यह है कि जैसे कोई भी देवदत्त नाम का पुरुष सूर्य के उदय होने से दिवस में देखता है और रात्रि को भी दीपक के द्वारा कुछ देखता है वैसे सूर्य के उदय के समान केवलज्ञान के द्वारा दिवस के समान मोक्ष अवस्था के होते हुए भगवान् केवली आत्मा को देखते हैं और संसारी विवेकी जीव रात्रि के समान संसार अवस्था में दीप के समान रागादि विकल्पों से रहित परम समाधि के द्वारा अपने आत्मा को देखते हैं।

अभिप्राय यह है कि आत्मा परोक्ष है उसका ध्यान कैसे किया जाये ऐसा सन्देह करके परमात्मा की भावना को छोड़ न देना चाहिए। अनादिकाल से यह जीव स्व–स्वरूपज्ञान, स्वाचरण से विमुख होकर अनात्म द्रव्य को जानने, मानने, पहचानने एवं प्राप्त करने में लगा हुआ है। स्वज्ञान बिना बाह्य वस्तुओं का विपुल ज्ञान भी अज्ञान है, अविद्या है, विद्याज्ञान है। कवि ने कहा है—

पोथी पढ़–पढ़ जग मुआ पंडित भया न कोय ।
ढाई अक्षर आत्म का पढ़े सो पंडित होय।।

जैसे–स्वतंत्र रूप में शून्य का मूल्य नहीं है। शून्य (जीरो) का समूह का मूल्य नहीं है, जीरो (शून्य) का गुणनफल भी शून्य ही होता है।

जैसे– एक शून्य का मूल्य शून्य, दो शून्य का मूल्य शून्य, शून्य शून्य का गुणा शून्य। इस तरह कई शून्य का गुणनफल या योगफल शून्य ही होता है परन्तु बायें तरफ एक इकाई (एक) रखकर उसके आगे यदि एक शून्य दिया जाता है तो उसका मूल्य 10 हो जाता है, दो शून्य रखने पर 100 हो जाता है। यहाँ पर दायें हाथ की तरफ शून्य का स्थानमान एक है तो दूसरे शून्य का मूल्य दशक है। इन शून्यों का मूल्य इसलिए बढ़ गया कि एक इकाई सहित है। इसी तरह जब ज्ञान आत्मज्ञान सहित होता है तब वह ज्ञान यथार्थ है और उसका मूल्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इसलिए तो मनीषियों ने कहा हैं–

"यः आत्मवित् स सर्ववित्।"

अर्थात् जो स्व आत्मतत्त्व को जानता है वह सब कुछ जानता है। जो आत्मा को नहीं जानता वह कुछ नहीं जानता है। इसलिए तो आत्म ज्ञान को सर्वोपरि माना गया है। इस विद्या को पराविद्या या 'श्रेष्ठविद्या' कहते हैं। विश्व का सर्वश्रेष्ठ नारा है 'आत्मनः विद्धि'। 'स्वयं को पहचानिए'। समस्त आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान स्व–पर भेद विज्ञान में निहित है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है–

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।। (50) इष्टोपदेश

जीव अन्य है और शरीरादि पुद्गल द्रव्य अन्य–पृथक् हैं। इस प्रकार यह आत्मा तत्त्व का संक्षिप्त सार है। जो कुछ अन्य इस विषय में कही जाती है वह वर्णन उस ही संक्षेप सार का विस्तार कथन है। इसलिए जो भावलिंगी मुनि द्रव्यश्रुत के माध्यम से स्वशुद्धात्म स्वरूप को जानता है, मानता है एवम् अनुभव करता है वह भावश्रुतकेवली है क्योंकि केवली भगवान् केवलज्ञान के माध्यम से जिस आत्मस्वरूप को प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं श्रुतकेवली उसे परोक्ष रूप से जानते हैं। असंयमी सम्यग्दृष्टि भी यदि सम्पूर्ण द्वादशांग का पाठी हो तो भी भाव श्रुत का ज्ञानी नहीं हो सकता, जैसे इन्द्र या अहमिन्द्र। क्योंकि वे भले क्षायिक सम्यग्दृष्टि द्वादशांग श्रुत के ज्ञाता हैं तो भी संयम के बिना आत्मा का अनुभव पूर्ण रूप से नहीं कर सकते हैं।

कुन्दकुन्ददेव ने समयसार में इसका वर्णन प्रायः इसी प्रकार ही किया है–

जो हि सुदेणहिगच्छदि, अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा।।9
जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहुजिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुदकेवली तह्मा।।10

जो द्वादशांग श्रुतज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्ध आत्मा को अपने अनुभव में लाता है उसे सर्वज्ञ भगवान् निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं और उसी श्रुतज्ञान के द्वारा जो सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है उसे जिन भगवान् द्रव्य–श्रुतकेवली कहते हैं।

जो जीव कर्त्ता करणता को प्राप्त हुए निर्विकल्प समाधि रूप स्वसंवेदनज्ञानात्मक भावश्रुत के द्वारा पूर्णरूप से अपने अनुभव में लाता है, प्रत्यक्षीभूत अपने आप आत्मा को सहाय रहित, रागादि से रहित अनुभव में लाता है, उस पुरुष को निश्चय श्रुतकेवली कहते हैं। कौन कहते हैं ? लोकालोक के प्रकाशक परम ऋषि कहते हैं। इस प्रकार इस गाथा के द्वारा निश्चय श्रुतकेवली का लक्षण कहा गया। किन्तु जो पुरुष द्वादशांग द्रव्य–श्रुत–ज्ञान को परिपूर्ण रूप जानता है उसे जिन भगवान् द्रव्य श्रुत केवली कहते हैं। क्योंकि द्रव्यश्रुत के आधार से उत्पन्न हुआ जो भाव श्रुतज्ञान है वह आत्मा ही है जो कि आत्मा की संवित्ति को विषय करने वाला और पर की परिच्छित्ति को विषय करने वाला होता है, इसलिए वह द्रव्य श्रुतकेवली होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो भाव श्रुत रूप स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्ध आत्मा को जानता है वह निश्चय–श्रुतकेवली होता है किन्तु जो अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं कर रहा है, न उसकी भावना कर रहा है, केवल बहिर्विषयक द्रव्यश्रुत के विषयभूत पदार्थों को जानता है वह व्यवहार–श्रुत केवली होता है।

प्रश्न– स्वसंवेदन ज्ञान के बल से इस काल में भी श्रुतकेवली हो सकता है, ऐसा समझना चाहिए क्या ?

समाधान–इस काल में यह नहीं हो सकता, क्योंकि जैसा शुक्ल ध्यानात्मक स्वसंवेदन ज्ञान पूर्व–पुरुषों को होता था वैसा इस समय नहीं होता, किन्तु इस समय तो यथायोग्य धर्मध्यान होता है।

स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्वतत्त्व प्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।।105 देवागम

स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों (जीवादि) सब तत्त्वों के प्रकाशक हैं। दोनों के प्रकाशन में साक्षात् और असाक्षात् (परोक्ष) का भेद (अन्तर) है– केवलज्ञान जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वों का प्रत्यक्षतः एवं युगपत् प्रकाशक है और स्याद्वाद रूप श्रुतज्ञान इन पदार्थों का अप्रत्यक्षतः (परोक्ष रूप से) क्रमशः प्रकाशक है। इन दोनों ज्ञानों में से जो किसी भी ज्ञान के द्वारा प्रकाशित अथवा उस का वाच्य नहीं वह अवस्तु होती है।

जोइय अप्पे जाणिएण जणु जाणियउ हवेइ ।
अप्पहँ केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ ।।99 परमात्म प्रकाश

हे योगी ! एक अपने आत्मा के जानने से यह तीन लोक जाना जाता है क्योंकि आत्मा के भावरूप केवलज्ञान में यह लोक प्रतिबिम्बित हुआ बस रहा है।

जो पस्सइ अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सइ जिण सासणं सव्वं।। समयसार

वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान से शुद्धात्म तत्त्व के जानने पर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है। क्योंकि जैसे रामचन्द्र, पांडव, भरत, सगर आदि महान् पुरुष भी जिनराज की दीक्षा लेकर फिर द्वादशांग को पढ़कर द्वादशांग पढ़ने का फल निश्चय रत्नत्रय स्वरूप जो शुद्ध परमात्मा उसके ध्यान में लीन हुए तिष्ठे थे। इसलिए वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानकर अपने आत्मा का जानना ही सार है, आत्मा के जानने से सबका जान पाना सफल होता है, इस कारण **जिन्होंने अपनी आत्मा को जाना उन्होंने सब को जाना।** अथवा निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो परमानंद सुखरस उसके आस्वाद होने पर ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है कि मेरा स्वरूप जुदा है, और देह रागादि मेरे से दूसरे (भिन्न) हैं मेरे नहीं है, इसीलिए आत्मा के (अपने) जानने से सब भेद जाने जाते हैं, जिसने अपने को जान लिया, उसने अपने से भिन्न सब पदार्थ जाने। अथवा आत्मा श्रुतज्ञान रूप व्याप्ति ज्ञान से सब लोकालोक को जानता है इसलिए आत्मा के जानने से सब जाना गया। अथवा वीतराग निर्विकल्प परम समाधि के बल से केवलज्ञान को उत्पन्न (प्रकट) करके जैसे दर्पण में वह घटपटादि पदार्थ झलकते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी दर्पण में सब लोक–अलोक भासते हैं। इससे यह विषय निश्चित हुआ, कि आत्मा के जानने से सब जाना जाता है। यहाँ पर सारांश यह हुआ कि इन चारों व्याख्यानों का रहस्य जानकर बाह्य–अभ्यंतर सब परिग्रह छोड़कर सब तरह से अपने शुद्धात्मा की भावना करनी चाहिये। ऐसा ही कथन समयसार में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने किया है।

'जो पस्सदि'– इत्यादि इसका अर्थ यह है कि, जो निकट संसारी जीव स्वसंवेदन ज्ञानकर अपने आत्मा को अनुभवता है, सम्यग्दृष्टिपने से अपने को देखता है, वह सब जैन शासन को देखता है, ऐसा जिनसूत्र में कहा है। कैसा वह आत्मा है? रागादिक ज्ञानावरणादिक से रहित, अन्यभाव जो नर नारकादि पर्याय उससे रहित है, विशेष अर्थात् गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास इत्यादि सब भेदों से रहित है। ऐसे आत्मा के स्वरूप को जो देखता है, जानता है, अनुभवता है वह जिन शासन का मर्म जानने वाला है।

जस्स हिदयेणुमेत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि।।167पं. का. पृ. 383

जिसके हृदय में परद्रव्य के प्रति अणुमात्र भी राग पाया जाता है वह सर्व शास्त्रों का जानने वाला है तो भी अपने आत्मिक पदार्थ या स्व समय को नहीं जानता है।

जिसके मन में वीतराग परमात्मा में भी वीतरागता से विपरीत रागभाव पाया जाता है वह अपने ही शुद्ध आत्मा में आचरण रूप अपने स्वरूप को नहीं जानता है।

इसलिए पहले ही विषयों का अनुराग त्यागकर फिर गुणस्थान की सीढी के क्रम से रागादि से रहित अपने शुद्धात्मा में ठहरकर अर्हत् सिद्ध आदि के सम्बन्ध में भी रागभाव को त्याग देना चाहिए, यह अभिप्राय है।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्धयति नान्यथा।।58 विवेक चूड़ामणि

मोक्ष न योग से सिद्ध होता है, न सांख्य से, न कर्म से और न विद्या से। वह केवल ब्रह्मात्मैक्य–बोध, ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान से ही होता है और किसी प्रकार नहीं।

अविज्ञाते परे तत्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधितित्सु निष्फला।।61

परम तत्त्व को यदि न जाना तो शास्त्राध्ययन निष्फल(व्यर्थ) ही है, और यदि परमतत्त्व को जान लिया तो भी शास्त्राध्ययन निष्फल(अनावश्यक) ही है।

द्रव्य श्रुत, भावश्रुत तथा श्रुत केवली

सुत्तं जिणोवदिट्ठ पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्य य जाणणा भणिया।।34

That which is preached by the jina through words,which are constituted of material substance, is consists is called the sutra (or the sacred text); knowledge consists in knowing it, and hence the sacred text also is designated as knowledge.

आगे कहते हैं कि शब्द रूप द्रव्यश्रुत व्यवहार नय से ज्ञान है। निश्चय करके अर्थ जानने रूप भावश्रुत ही ज्ञान है। अथवा **आत्मा की भावना में लवलीन पुरुष निश्चय श्रुत केवली है,** ऐसा पूर्व सूत्र में कहा है। अब व्यवहार श्रुतकेवली को कहते हैं अथवा ज्ञान के साथ जो श्रुत की उपाधि है उसे दूर करते हैं–

(सुत्तं) द्रव्यश्रुत (पोग्गल–दव्वप्पगेहिं वयणेहिं) पुद्गल द्रव्यमई दिव्यध्वनि के वचनों से (जिणोवदिट्ठं) जिन भगवान् के द्वारा उपदेश किया गया है। (हि) निश्चय करके (तज्जाणणा)उस द्रव्यश्रुत आधार से जो जानपना है (णाणं) सो अर्थ ज्ञानरूप भावश्रुत ज्ञान है। (य) और (सुत्तस्स) उस द्रव्य को भी (जाणणा) जानपना या ज्ञानसंज्ञा (भणिया) व्यवहार नय से कही गई है।

भाव यह है कि जैसे निश्चय से यह जीव शुद्ध–बुद्ध एक स्वभाव रूप है, पीछे व्यवहार नय से जीव नर–नारक आदि रूप भी कहा जाता है। तैसे निश्चय से ज्ञान सर्व वस्तुओं का प्रकाश करने वाला अखंड एक प्रतिभास रूप कहा जाता है, सो ही ज्ञान फिर व्यवहार नय से मेघों के पटलों से भी आच्छादित सूर्य की अवस्था विशेष की तरह कर्म पटल से आच्छादित अखंड एक ज्ञान रूप होकर मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि नामवाला हो जाता है।

सर्वज्ञ हितोपदेशी अरहंत भगवान् जो दिव्यध्वनि के माध्यम से उपदेश करते हैं उसे ही जिनवाणी जो शब्दात्मक है वह पौद्गलिक है इसलिए उसे "द्रव्य श्रुत" कहते हैं। उस द्रव्य श्रुत के माध्यम से जो

दूसरों को ज्ञान होता है उसे भावश्रुत कहते हैं या भावश्रुत चैतन्य स्वरूप है क्योंकि उस द्रव्यश्रुत के माध्यम से ज्ञान ही जानता है क्योंकि ज्ञान में ही स्वपर प्रकाशक/स्व–पर वेदक अनुभव करने की शक्ति है अन्य किसी भी गुण में यह शक्ति नहीं है इसलिये आत्मलीन होकर निर्विकल्प समाधि में जो स्वयं को जानता है वह भावश्रुत केवली हैं और अन्य सब द्रव्य श्रुत केवली हैं तथापि वे द्रव्य श्रुत केवली भी ज्ञान से ही बनते हैं और यह श्रुतज्ञान पर्याय दृष्टि से ज्ञान की पर्याय है तथापि गुण की दृष्टि से, द्रव्य दृष्टि से ज्ञान ही है। आत्मानुभव अपेक्षा जो ज्ञान केवली एवं श्रुतकेवली के है उस ज्ञान में द्रव्य दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। अमृतचंद्र सूरि ने कहा भी है–

सा च केवलिनः श्रुतकेवलिन चात्मसंचेतने तुल्यै वेत्ति नास्ति ज्ञानस्यं श्रुतोपाधि भेदः।

वह (ज्ञप्ति) केवली के और श्रुतकेवली के आत्म अनुभव में समान ही है। इसलिए ज्ञान के श्रुत–उपाधि (कृत) भेद नहीं है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा भी है–

सव्वं पि अणेयंतं परोक्ख–रुपेण जं पयासेदि।
तं सुय–णाणं भण्णदि संसय–पहुदीहि परिचतं।।262 पृ. 187

जो परोक्ष रूप से सब वस्तुओं को अनेकान्त रूप दर्शाता है, संशय आदि से रहित उस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। तीन मिथ्याज्ञान होते हैं– संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय। वह ठूंठ है अथवा आदमी है ? इस प्रकार के चलित ज्ञान को संशय कहते हैं। सीप को चाँदी जानना विपर्यय ज्ञान है। मार्ग में चलते हुए किसी वस्तु का पैर में स्पर्श होने पर कुछ होगा इस प्रकार के ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। इन तीनों मिथ्याज्ञानों से रहित जो ज्ञान अनेकान्त रूप वस्तु को परोक्ष जानता है वही श्रुतज्ञान है। पहले श्रुतज्ञान को परोक्ष बतलाया है, क्योंकि वह मन से होता है तथा मतिपूर्वक ही होता है। श्रुतज्ञान के दो मूल भेद हैं–

एक अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान और एक अक्षरात्मक। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु इन चार इन्द्रियों से होने वाले मतिज्ञान पूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। तथा शब्दजन्य मतिज्ञानपूर्वक होने वाले श्रुतज्ञान को अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। शास्त्र से तथा उपदेश वगैरह से जो विशेष ज्ञान होता है वह सब श्रुतज्ञान है। शास्त्रों में सभी वस्तुओं के अनेकान्त स्वरूप का वर्णन होता है अतः श्रुतज्ञान सभी वस्तुओं को शास्त्र वगैरह के द्वारा जानता है, किन्तु शास्त्र के बिना अथवा जिनके वचनों का सार शास्त्र में है उन प्रत्यक्षदर्शी केवली के बिना सब वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी से समन्तभद्र स्वामी ने आत्ममीमांसा में श्रुतज्ञान का महत्व बतलाते हुए कहा है– श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करते हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष रूप से जानता है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष रूप से जानता है। **जो श्रुतज्ञान और केवलज्ञान का विषय नहीं है वह अवस्तु है अर्थात् ऐसी कोई वस्तु नहीं जो इन दोनों ज्ञानों के द्वारा न जानी जा सके।**

अनुच्छेद-6

ज्ञानी एवं ज्ञान कथंचित् अभेद है

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे।।(35)

He who knows is Knowledge; the self does not become aknower with knowledge (as an extraneous instrument). The very self develops knowledge, and all the object stand (reflected) in the knowledge.

आगे कहते हैं कि आत्मा अपने से भिन्न किसी ज्ञान के द्वारा ज्ञानी नहीं होता है अर्थात् ज्ञान और आत्मा का सर्वथा भेद नहीं है किसी अपेक्षा से भेद है, वास्तव में ज्ञान और आत्मा अभिन्न है।

(जो जाणादि) जो कोई जानता है (सो णाणं) सो ज्ञान गुण अथवा ज्ञानी आत्मा है। जैसे संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि के कारण अग्नि और उसके उष्ण गुण का भेद होने पर भी अभेद नय से जलाने की क्रिया करने को समर्थ उष्ण गुण के द्वारा परिणमति हुई अग्नि भी उष्ण कही जाती है। तैसे संज्ञा लक्षणादि के द्वारा ज्ञान और आत्मा का भेद होने पर भी पदार्थ और क्रिया के जानने को समर्थ ज्ञान गुण के द्वारा परिणमन करता हुआ आत्मा भी ज्ञान या ज्ञानरूप कहा जाता है ऐसा ही कहा गया है। "जानातीति ज्ञानमात्मा" कि जो जानता है सो ज्ञान है और सो ही आत्मा है। (आदा) आत्मा (णाणेण) भिन्न ज्ञान के कारण से (जाणगो) जानने वाला ज्ञाता (ण हवदि) नहीं होता है। किसी का ऐसा मत है कि जैसे भिन्न दंतीले से देवदत्त घास काटने वाला होता है वैसे भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञाता होवे तो कोई दोष नहीं है। उसके लिए कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता है। घास छेदने की क्रिया के संबंध में दंतीला बाहरी उपकरण है सो भिन्न हो सकता है परन्तु भीतरी उपकरण देवदत्त की छेदन क्रिया संबंधी शक्ति विशेष है सो देवदत्त से अभिन्न ही है, भिन्न नहीं है। तैसे ही ज्ञान की क्रिया में उपाध्याय, प्रकाश, पुस्तक आदि बाहरी उपकरण भिन्न हैं, तो हों, इसमें कोई दोष नहीं है। परन्तु ज्ञान शक्ति भिन्न नहीं है वह आत्मा से अभिन्न है। यदि ऐसा मानोगे कि भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी हो जाता है तब दूसरे के ज्ञान से अर्थात् भिन्न ज्ञान से सर्व ही कुंभ, खंबा आदि जड़ पदार्थ भी ज्ञानी हो जायेंगे सो ऐसा होता नहीं। (णाणं) ज्ञान (सयं) आप ही (परिणमदि) परिणमन करता है अर्थात् जब भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी नहीं होता है तब जैसे घट की उत्पत्ति में मिट्टी का पिंड स्वयं उपादान कारण से परिणमन करता है वैसे पदार्थों के जानने में ज्ञान स्वयं उपादान कारण से परिणमन करता है तथा (सव्वे अट्ठा) व्यवहार नय से सब ही ज्ञेय पदार्थ (णाणट्ठिया) ज्ञान में स्थित है अर्थात् जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है तैसे ज्ञेय पदार्थ ज्ञानाकार से ज्ञान में झलकते हैं ऐसा अभिप्राय है।

ज्ञान गुण एवं गुणी कथंचित् भिन्न भी हैं और कथंचित् अभिन्न भी हैं। इसलिए

कथंचित् ज्ञान–ज्ञानी है और कथंचित् ज्ञानी ज्ञान से भिन्न अन्य अस्तित्व, वस्तुत्वादि गुण स्वरूप भी है। अथवा आत्मा स्वयं से भिन्न अन्य किसी ज्ञान गुण के संयोग से ज्ञेय को जानता है ऐसा भी नहीं है। यदि ऐसा माना जाय तो ज्ञान के संयोग से पहले आत्मा अचेतन रहेगा। तथा ज्ञान के संयोग से चेतन होगा। और भी एक अनर्थ उत्पन्न हो जायेगा वह यह है कि वह ज्ञान गुण आत्मा के संयोग के पहले किस आधार पर था ? और ज्ञान गुण के बिना आत्मा की सत्ता कैसे संभव है ? कोई दार्शनिक ज्ञान एवं ज्ञान का फल भिन्न ही मानते हैं और कोई अभिन्न ही है ऐसा मानते हैं परन्तु ज्ञान एवं उसका फल कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है, यह वस्तु स्वरूप है। प्रमेयरत्नमाला में कहा भी है–

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। (1)

अज्ञान की निवृत्ति हान, उपादान और उपेक्षा ये प्रमाण के फल हैं।

फल दो प्रकार का होता है–साक्षात्फल और पारम्पर्यफल। वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होना यह प्रमाण का साक्षात्फल है। हान आदिक परम्पराफल है, क्योंकि वह प्रमेय के निश्चय करने के उत्तरकाल में होता है।

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च। (2)

वह फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न है और कथंचित् भिन्न है।

यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः। 3

जो प्रमाण से पदार्थ को जानता है उसी का अज्ञान निवृत होता है, वही अनिष्ट वस्तु का त्याग करता है, इष्ट वस्तु को ग्रहण करता है और जिसे अपने लिए इष्ट–अनिष्ट रूप नहीं समझता है, उसकी उपेक्षा करता है। इस प्रकार की प्रतीति होने से सिद्ध है कि प्रमाण से फल अभिन्न है।

पारम्पर्येण साक्षाच्च फलं द्वेधाऽमिधायि यत्।
देवैर्भिन्नभिन्नं च प्रमाणात्तदिहोदितम्।।11

इसका यह अर्थ (अभिप्राय) है कि जिस आत्मा की प्रमाण के आकार से परिणति होती है, उसके ही फलरूप से परिणाम देखा जाता है इसलिए एक प्रमाता की अपेक्षा से प्रमाण और फल में अभेद है। प्रमाण करण रूप परिणाम है और फल क्रियारूप परिणाम है इस प्रकार करण और क्रियारूप परिणाम के भेद से प्रमाण और फल में भेद है। यह भेदरूप कथन सामर्थ्य से सिद्ध होने के कारण सूत्रकार ने पृथक नहीं कहा है।

आचार्य अकलंकदेव ने और माणिक्यनंदी ने प्रमाण के जिस फल को साक्षात् और पारम्पर्य के भेद से दो प्रकार का कहा है, वह प्रमाण से कथंचित् भिन्न भी है और अभिन्न भी है, वही यहाँ पर मैनें कहा है।

ज्ञान एवं ज्ञेय का स्वरूप

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं।।36

Therefore the self knowledge; the object of knowledge is

the substance, which is said to be threefold; the substance comprises the soul and the (five) other (substances) which are prone to modification.

आगे बताते हैं कि आत्मा ज्ञान रूप है तथा अन्य सर्व ज्ञेय हैं अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय का भेद प्रगट करते हैं। क्योंकि आत्मा ही अपने उपादान रूप से ज्ञानरूप परिणमन करता है तैसे ही पदार्थों को जानता है ऐसा पूर्व सूत्र में कहा गया है (तम्हा) इसलिए (जीवः) आत्मा ही (णाणं) ज्ञान है। (णेयं दव्वं) उस ज्ञान स्वरूप आत्मा का ज्ञेय द्रव्य (तिहा) तीन प्रकार अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान पर्याय में परिणमन रूप से या द्रव्य गुण पर्याय रूप से या उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य रूप से ऐसे तीन प्रकार (समक्खादं) कहा गया है (पुणो) तथा (परिणाम संबद्धं) किसी अपेक्षा परिणमनशील (आदा च परं) आत्मा और पर द्रव्य (दव्वं ति) द्रव्य है तथा क्योंकि ज्ञान दीपक के समान अपने को भी जानता है और पर को भी जानता है इसलिये आत्मा भी ज्ञेय है।

यहाँ पर नैयायिक मत के अनुसार चलने वाला कोई कहता है कि ज्ञान दूसरे ज्ञान से जाना जाता है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे घट आदि। अर्थात् ज्ञान स्वयं अपने आपको नहीं जानता है ? इसका समाधान करते है कि ऐसा कहना दीपक के साथ व्यभिचार रूप है। क्योंकि जैसे प्रदीप अपने आप प्रमेय या जानने योग्य ज्ञेय है। उसके प्रकाश के लिए अन्य की आवश्यकता नहीं है। तैसे ही ज्ञान भी अपने आप ही अपने आत्मा को प्रकाश करता है, उसके लिए अन्य ज्ञान होने की जरूरत नहीं है। ज्ञान स्वयं स्व–पर प्रकाशक है। यदि ज्ञान दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है तब वह ज्ञान फिर दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है ऐसा माना जायेगा तो अनन्त आकाश में फैलने वाली व जिसका दूर करना अति कठिन है, ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जाएगी सो होना सम्मत नहीं है। इसलिए ज्ञान स्व–पर प्रकाशित है। ऐसा सूत्र का अर्थ है।

जैसे दीपक स्व–पर प्रकाशी है अर्थात् स्वयं प्रकाशित होता है एवं पर को भी प्रकाशित करता है। उसी प्रकार आत्मा भी स्व–पर प्रकाशी है अर्थात् ज्ञान गुण के द्वारा स्वयं को जानता है और दूसरों को भी जानता है। जब आत्मा स्वयं को जानता है उस समय वह कथंचित् ज्ञेय भी हो जाता है। अन्य दृष्टि से भी आत्मा ज्ञेय भी है क्योंकि ज्ञानगुण को छोड़कर अन्य गुण भी ज्ञान के विषय बनते हैं इसलिए अन्य गुण की अपेक्षा आत्मा ज्ञेय भी बन जाता है। अन्य अचेतन द्रव्य केवल ज्ञेय ही होते हैं कभी ज्ञान नहीं ही होते हैं क्योंकि उसमें चैतन्य शक्ति नहीं होती है। जैसे–जो द्रव्य स्वयं अप्रकाशी है वह अन्य द्रव्य को प्रकाश नहीं दे सकता परन्तु अन्य के प्रकाश से प्रकाशित हो सकता है। जैसे विज्ञान की अपेक्षा सूर्य स्वप्रकाशी एवम् परप्रकाशी भी है। क्योंकि जब सूर्य उदय होता है तब सूर्य को देखने के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है। कोई यह नहीं कहता कि मुझे उदित सूर्य को देखना है अतः एक टार्च लेकर आओ। परन्तु अंधकार में कोई अप्रकाशित वस्तु देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है। प्रमेयरत्नमाला (जैन न्याय शास्त्र) में कहा भी है–

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। (1) पृ.13

स्व अर्थात् अपने आपको और अपूर्वार्थ अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से पूर्व में जाना नहीं है ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः।(6)

स्वोन्मुखरूप से अपने आपको जानना, यह स्वव्यवसाय है। अपने आपके जानने के अभिमुख होने को स्वोन्मुखता कहते हैं। उस स्वान्मुखता कहिए स्वानुभव रूप से जो प्रतिभास अर्थात् आत्मप्रतीति होती है, वही स्वव्यवसाय कहलाता है। सारांश अपने आपको जानने का नाम स्वव्यवसाय है।

अर्थस्सेव तदुन्मुखतया।(7) पृ. 24

जैसे अर्थ के उन्मुख होकर उसे जानना अर्थव्यवसाय है। सूत्र में कहे गये 'तत्' शब्द से अर्थ (पदार्थ) को ग्रहण किया गया। जिस प्रकार पदार्थ के अभिमुख होकर उसके जानने को अर्थव्यवसाय कहते हैं, उसी प्रकार स्व अर्थात् अपने आपके अभिमुख होकर जो अपने–आपका प्रतिभास होता है अर्थात् आत्मप्रतीति या आत्म–निश्चय होता है, वह स्वव्यवसाय कहलाता है।

घटमहमात्मना वेद्मि। (8) पृ. 25

मैं घट को अपने आपके द्वारा जानता हूँ। यहाँ पर 'अहं' पद कर्त्ता है, 'घट' कर्म है, 'आत्मना' पद करण है और 'वेद्मि' यह क्रिया है। जैसे जानने वाला पुरूष अपने आपके द्वारा घट को जानता है, वैसे ही अपने आपको भी जानता है।

प्रदीपवत्।(12) पृ. 28

दीपक के समान। जिस प्रकार दीपक की प्रकाशता और प्रत्यक्षता को स्वीकार किये बिना उससे प्रतिभासित हुए घटादिक पदार्थ की प्रकाशता और प्रत्यक्षता सम्भव नहीं है उसी प्रकार यदि प्रमाणस्वरूप ज्ञान की भी प्रत्यक्षता न मानी जाय, तो उसके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ की भी प्रत्यक्षता माननी सम्भव नहीं है। अतः दीपक के समान ज्ञान की भी स्वयं प्रकाशता और प्रत्यक्षता माननी चाहिए। यहाँ यह तात्पर्य है– ज्ञान अपने आपके प्रतिभास करने अर्थात् जानने में अपने से अतिरिक्त (भिन्न) सजातीय अन्य पदार्थ की अपेक्षा से रहित है क्योंकि पदार्थ को प्रत्यक्ष करने के गुण से युक्त होकर अदृष्ट–अनुयायी करणवाला है, जैसे दीपक का भासुराकार। नियम सार में अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है–

यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रमितेः पृथक्।। पृ.432

यथार्थ रूप से वस्तु का निर्णय होना सम्यग्ज्ञान है, वह प्रदीप के समान स्व और पर अर्थ का निश्चय कराने वाला है, तथा प्रमिति–जानने रूप क्रिया से कथंचित् भिन्न है।

अनुच्छेद-7

स्वाध्याय के स्वरूप एवं शास्त्राध्ययन का फल

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि।।(275)।।

He, who, practising the course of duties of a house- holdor and of a monk, comprehends this doctrine , realizes within a short time, the essence of the doctrine (namely, the self).

आगे शिष्यजन को शास्त्र का फल दिखाते हुए इस शास्त्र का उपसंहार करते हैं– (जो) जो कोई (सागाराणगारचरिययाजुत्तो) श्रावक या मुनि के चारित्र से युक्त होकर (एयं सासणं) इस शासन या शास्त्र को (बुज्झदि) समझता है (सो) सो भव्य जीव (लहुणा कालेण) थोडे ही काल में (पवयणसारं) इस शास्त्र के सारभूत परमात्मपद को (पप्पोदि) प्राप्त कर लेता है। यह प्रवचन सार नाम का शास्त्र रत्नत्रय का प्रकाशक है। तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है उसके विषयभूत अनेक धर्मरूप परमात्मा आदि द्रव्य हैं–इन्हीं का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है। इससे साधने योग्य अपने शुद्धात्मा की रूचि रूप निश्चय सम्यग्दर्शन है।

जानने योग्य परमात्मा आदि पदार्थों का यथार्थ जानना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। इससे साधने योग्य निर्विकार स्वसंवेदन या स्वानुभव ज्ञान होना निश्चय सम्यग्ज्ञान है। व्रत, समिति, गुप्ति आदि का आचरण–पालना व्यवहार वा सरागचारित्र है, उसी से ही साधने योग्य अपने शुद्धात्मा की निश्चल अनुभूतिरूप वीतराग चारित्र या निश्चय सम्यक् चारित्र है। जो कोई शिष्यजन अपने भीतर "रत्नत्रय ही उपादेय है, इन्हीं का साधन कार्यकारी है" ऐसी रूचि रखकर, बाहरी रत्नत्रय का साधन श्रावक के हैं, बाहरी रत्नत्रय के आधार से निश्चयरत्नत्रय का अनुष्ठान (साधन) मुनि का आचरण है। अर्थात् प्रमत्तगुणस्थानवर्ती आदि तपोधन की चर्या है– जो श्रावक या मुनि इस प्रकार प्रवचनसार नाम के ग्रंथ को समझता है वह थोड़े ही काल में अपने परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।

सर्वप्रकार निर्मल केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभाव जो अपना परमात्म तत्त्व है उसका भले प्रकार श्रद्धान, उसी का ज्ञान व उसी का आचरण रूप अभेद या निश्चयरत्नत्रयमय जो निर्विकल्पसमाधि उससे उत्पन्न जो रागादि की उपाधि से रहित परमानन्दमय एक स्वरूप सुखामृत रस का स्वाद उसको नहीं अनुभव करता हुआ जैसे पूर्णमासी के दिवस समुद्र अपने जल की तरंगों से अत्यन्त क्षोभित होता है, इस प्रकार रागद्वेष मोह की कल्लोलों से यह जीव जब तक अपने निश्चल स्वभाव में न ठहरकर क्षोभित या आकुलित होता रहता है तब तक अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं प्राप्त करता है। जैसे वीतराग सर्वज्ञ–कथित उपदेश पाना दुर्लभ है वैसे ही एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय संज्ञी, पर्याप्त मनुष्य, उत्तम देश, उत्तम कुल, उत्तम रूप, इन्द्रियों की विशुद्धता, बाधारहित आयु, श्रेष्ठ बुद्धि, सच्चे धर्म का सुनना, ग्रहण करना,

धारण करना, उसका श्रद्धान करना, संयम का पालना, विषयों के सुख से हटना, क्रोधादि कषायों से बचना आदि परम्परा दुर्लभ सामग्री को भी कथंचित् काकतालीय न्याय से प्राप्त करके सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञान, केवल दर्शन स्वभाव अपने परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व आचरण रूप अभेद रत्नत्रयमय निर्विकल्पसमाधि से उत्पन्न जो रागादि की उपाधि से रहित परमानन्दमय सुखामृत रस उसके स्वादानुभव का लाभ होते हुए, जैसे अमावस के दिन समुद्र जल की तरंगों से रहित निश्चल क्षोभ रहित होता है, राग द्वेष, मोह की कल्लोलों के क्षोभ से रहित होकर जैसा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित होता जाता है वैसा ही अपने शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त करना है।

इस गाथा में कुन्दकुन्द देव ने शास्त्र–अध्ययन का फल तथा प्रवचनसार के स्वरूप का वर्णन किया है। केवल शब्दात्मक ग्रंथ के अध्ययन से आत्म–तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती है परन्तु शब्दब्रह्म (द्रव्यागम) के द्वारा प्रतिपादित परमब्रह्म (निज शुद्धात्म तत्त्व) को जानता है, मानता है एवं प्राप्त करता है उसका ही शास्त्र अध्ययन सफल है अन्यथा तोता रटंत या टेप रिकार्ड के समान विफल है। जिस प्रकार टेप में आध्यात्मिक ग्रंथो को टेप करने से टेप को कोई सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र नहीं हो जाता है उसी प्रकार केवल मतिज्ञानावरणीय एवं श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से केवल आध्यात्मिक शास्त्रों के अध्ययन, प्रवचन, लेखन भी कार्यकारी नहीं हो सकता है। कुन्दकुन्द देव ने समयसार की अंतिम गाथा में जिस रहस्य का प्रतिपादन किया है उसी ही रहस्य का इसमें प्रतिपादन किया है। यथा :–

जो समयापाहुड़मिणं पडिदूणय अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाहिदि चेदा सो पावदि उत्तम सोक्खं ।। 439 (स. पृ. 375)

(जो समयपाहुड़मिणं पड़िदूणय) श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस समयसार ग्रंथ को समाप्त करते हुये इसका फल दर्शाते हैं कि कोई भी जीव इस समय प्राभृत नाम के ग्रंथ को पढ़कर, केवल पढ़कर ही नहीं (अत्थतच्चदो णादुं) अर्थ और तत्त्व से भी जानकर अर्थात् उसके भाव को भी समझकर (अत्थे ठाहदि) पश्चात् शुद्धात्म लक्षण वाले उपादेय पदार्थ में अर्थात् निर्विकल्प समाधि में लगा रहेगा (चेदासो पावदिसोक्खं) वह आत्मा आगामीकाल में वीतरागरूप सहज अपूर्व परम आल्हाद रूप सुख को प्राप्त करेगा। वीरसेन स्वामी ने भी धवला में ज्ञान का कार्य तत्त्वरूचि तत्त्व निर्णय, चारित्र का पालन कहा है। यथा :–

किं तद् ज्ञानकार्यमिति चेतत्त्वार्थे रूचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्र स्पर्शन च। (धवला. पृ. 353)

शंका :– ज्ञान का कार्य क्या है?

समाधान :–तत्त्वार्थ में रूचि, निश्चय श्रद्धा और चारित्र का धारण करना

ज्ञान का कार्य है।

जो जानता है उसे ज्ञान कहते हैं। अर्थात् साकार उपयोग को ज्ञान कहते हैं अथवा जिसके द्वारा यह आत्मा जानता है, जानता था अथवा जानेगा, ऐसे ज्ञानावरण कर्म के एकदेश क्षय से अथवा संपूर्ण ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न हुए आत्मा के परिणाम को ज्ञान कहते हैं। मूलाचार में भी कहा है–

णाणविण्णाणसंपण्णो झाणज्झणतवेजुदो।
कसायगारवुम्मुक्को संसारं तरदे लहुं।।970 मूलाचार उत्तरार्ध

ज्ञान–विज्ञान से सम्पन्न एवं ध्यान, अध्ययन और तप से युक्त तथा कषाय और गारव से रहित मुनि शीघ्र ही संसार को पार कर लेते हैं।

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसंवुड़ो तिगुत्तो य।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू।।971

विनय से सहित मुनि स्वाध्याय करते हुए पंचेन्द्रियों को संकुचित कर तीन गुप्तियुक्त और एकाग्रमना हो जाते हैं।

बारसविधह्मि स तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
ण वि अत्थि ण वि य होहदि सज्झायसमं तवोकम्मं।।972

गणधर देवादि प्रदर्शित, बाह्य अन्तरंग से सहित बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय समान तप कर्म न है और न होगा ही।

सुई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दू पमाददोसेण।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तहा पमाददोसेण।।973

जैसे धागे सहित सुई प्रमाद दोष से भी खोती नहीं हैं ऐसे ही सूत्र के ज्ञान से सहित पुरूष प्रमाद दोष से भी नष्ट नहीं होता ।

शास्त्राध्ययन फल का विशेष वर्णन भगवती आराधना में निम्न प्रकार से किया है–

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसुंवुड़ो तिगुत्तो य ।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू ।।(पृ.136गा.103)

विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ साधु पांचों इन्द्रियों के विषयों से संवृत्त और तीन गुप्तियों से गुप्त एकाग्रमन होता है ।

जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसयरसपसरमसुदपुव्वंतु।
तह तह पल्हादिज्जदि नव नवसंवेगसड्ढाए।।104

जैसे–जैसे अतिशय अभिधेय से भरा, जिसे पहले कभी नहीं सुना ऐसे श्रुत को अवगाहन करता है, तैसे–तैसे नई–नई धर्म श्रद्धा से आल्हाद युक्त होता है।

बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरेकुसलदिट्ठे।
ण वि अत्थि ण विय होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं।।106

सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट अभ्यन्तर और बाह्य भेद सहित बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय के समान तपक्रिया नहीं है और न होगी ही।

जोग्गं कारिज्जंतो अस्सो दुहभाविदो चिरं कालं।
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्जं।। पृ.228 गा.194

जैसे योग्य शिक्षा को प्राप्त अश्व चिरकाल तक दुःख से भावित हुआ, अर्थात् कष्ट सहने का अभ्यासी युद्ध भूमि को सवारी में जाने का कार्य करता है।

पुव्वं कारिदजोगो समाधिकामो तहा मरण काले।
होदि हु परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो।।195

उसी प्रकार पूर्व में तप करने वाला विषय सुख से विमुख जीव मरते समय समाधि का इच्छुक हुआ निश्चय से परीषह को सहने वाला होता है।

सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणवइ।
तो उवओगपइण्णा सुहमच्चविदो समाणेइ।।196

श्रुत भावना से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, तप और संमयरूप परिणमन करता है। ज्ञान भावना से उपयोग की प्रतिज्ञा को सुख पूर्वक अचलित होता हुआ समाप्त करता है।

जदणाए जोग्गापरिभाविदस्स जिणवयणमणुगदमणस्स।
सदिलोवं कादुं जे ण चयंति परीसहा ताहे।।197

तब यत्न से अपने को तप से भावित करने वाले के तथा जिनागम के अनुगत चित्तवाले के स्मृति का लोप करने में परिषह समर्थ नहीं होती।

आचार्य कुन्दकुन्द ने दर्शन प्राभृत में जिनेन्द्र वचन को परम औषधि तथा अमृत रूप कहा है क्योंकि इसके माध्यम से जीव विषयरूपी विष को वमन कर देता है, जन्म, जरा, मरण रूपी रोग से मुक्त होकर अजर–अमर पद को प्राप्त कर लेता है। यथा–

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरयणं अमिदभूयं।
जर–मरण वाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं।। (17अष्ट. पृ.33)

यह जिनवचनरूपी औषधि विषयसुख को दूर करने वाली है, अमृतरूप है, जरा और मरण की व्याधि को हरने वाली है, तथा सब दुःखों का क्षय करने वाली है।

पूज्यपाद स्वामी ने श्रुतभक्ति में जिनवाणी की स्तुति करते हुए कामना करते हैं कि मुझे इस स्तुति के फलस्वरूप ज्ञान का फल अनंत सौख्य है वह प्राप्त होवे। इससे सिद्ध होता कि ज्ञान का फल मोक्ष है। यथा–

एवमभिष्टुवतो मे ज्ञानानि समस्त लोक चक्षूंषि।
लघु भवताज्ज्ञानर्द्धि, ज्ञानफलं सौख्यमच्यवनम्।।30 ध.प्र.पृ.62

इस प्रकार पाँचों ही ज्ञान समस्त पदार्थों को जानने के लिए नेत्र के समान हैं। इसलिये स्तुति करने वाले मुझे बहुत शीघ्र अनंत तथा अविनाशी सुख की प्राप्ति हो, जो सुख ज्ञान से ही उत्पन्न होता है, इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता अथवा पुष्पमाला, भोजन, स्त्री आदि बाह्य पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता। केवलज्ञान, आत्मा से उत्पन्न होता है तथा जिस सुख में ज्ञान की अनेक ऋद्धियां भरी हुई हैं, अनंतदर्शन और अनंतवीर्य

जिस अनंतसुख के साथ हैं ऐसा अनंतसुख मुझे शीघ्र ही प्राप्त हो।

तिलोयपण्णत्ति में यतिवृषभाचार्य ने तथा धवला में वीरसेन स्वामी ने शास्त्र अध्ययन के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष फल का वर्णन किया है। प्रत्यक्ष फल अज्ञान की निवृति एवं ज्ञान की उत्पत्ति, शिष्यादि द्वारा पूजा–सत्कार एवं बहुमान तथा असंख्यात गुण श्रेणी निर्जरा है। परोक्ष फल संसार के अभ्युदय सुख एवं अंत में मोक्ष सुख है। यथा–

केवलणाण–दिवायंर–किरणकलावादु एत्थ अवदारो।
गणहरदेवेहिं गंथुप्पत्ति हु सोहं त्ति संजादो।।33 (ति.प.1पृ.8)

केवलज्ञान रूपी सूर्य की किरणों के समूह से श्रुत के अर्थ का अवतार हुआ तथा गणधर–देव के द्वारा ग्रंथ की उत्पत्ति हुई। यह श्रुत कल्याणकारी है।

छद्दव्वह–णव–पयत्थे सुदणाणं दुमणि किरण–सत्तीए।
देक्खंतु भव्व जीवा अण्णाण तमेण संछण्णा।।34

अज्ञान रूपी अंधेरे से आच्छादित हुए भव्य जीव श्रुतज्ञानरूपी सूर्य की किरणों की शक्ति से छह और नव पदार्थों को देखें (यही ग्रन्थावतार का निमित्त है)।

दुविहो हवेदि हेदु तिलोयपण्णत्ति गंथअज्झयणे।
जिणवर–वयणुद्दिट्ठो पच्चक्ख परोक्ख भेएहिं ।।35

त्रिलोक प्रज्ञप्ति ग्रंथ के अध्ययन में जिनेन्द्रदेव के वचनों से उपदिष्ट हेतु, प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है।

सक्खा–पच्चक्खा–परंपच्चक्खा दोण्णि होंति पच्चक्खा।
अण्णाणस्स विसाणं णाण दिवायरस्स उत्पत्ती।।36
देव–मणुस्सादीहिं संततमब्भच्चणप्पयाराणि।
पडिसमयमसंखेज्जय गुणसेढि कम्म णिज्जरणं।।37
इय सक्खं–पच्चक्खं पच्चक्ख परंपरं च णादव्वं।
सिस्स पडिसिस्स पुहुदीहिं सददमब्भच्चण पयारं।।38

प्रत्यक्ष हेतु, साक्षात् प्रत्यक्ष और परम्परा प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। अज्ञान का विनाश, ज्ञानरूपी दिवाकर की उत्पत्ति, देव तथा मनुष्यादिकों के द्वारा निरन्तर की जाने वाली विविध प्रकार की अभ्यर्चना (पूजा) और प्रत्येक समय में असंख्यातगुणश्रेणीरूप से होने वाली कर्मों की निर्जरा साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु है। शिष्य–प्रतिशिष्य आदि के द्वारा निरन्तर अनेक प्रकार से की जाने वाली पूजा को परम्परा प्रत्यक्ष हेतु जानना चाहिए।

दो भेदं च परोक्खं अब्भुदय सोक्खाइं मोक्ख–सोक्खइं।
सादादि विविह सुपसत्थ कम्म तिव्वाणुभाग उदएहिं।।39
इंद पडिंद–दिगिंदय तेत्तीसामर समाणा पहुदि सुहं।
राजहिराज महराज अद्धमंडलिय मंडलियाणं।।40
महमंडलियाणं अद्धचक्कि चक्कहर तित्थयर सोक्खं ।(41/1)

परोक्ष हेतु भी दो प्रकार का है एक अभ्युदय सुख और दूसरा मोक्ष सुख।

सातावेदनीय आदि विविध सुप्रशस्त कर्मों के तीव्र अनुभाग के उदय से प्राप्त हुआ इन्द्र, प्रतीन्द्र, दिगिन्द्र (लोकपाल), त्रायस्त्रिंश एवं सामानिक आदि देवों का सुख तथा राजा, अधिराजा, महाराज, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, अर्धचक्री (नारायण–प्रतिनारायण) चक्रवर्ती और तीर्थंकर इनका सुख अभ्युदय सुख है।

सोक्खं तित्थयराणं सिद्धाणं तह य इंदियादीदं।
अदिसयमाद समुत्थ णिस्सेयसमणुवमं पवरं।।49

तीर्थंकरों (अरिहन्तों) और सिद्धों के अतीन्द्रिय, अतिशयरूप, आत्मोत्पन्न अनुपम तथा श्रेष्ठ सुख को निःश्रेयस सुख कहते हैं।

सुदणाण–भावणाए णाणं मत्तंड़ किरण–उज्जोओ।
चंदुज्जलं चारित्तं णियवसं–चित्तं हवेदि भव्वाणं।।50

श्रुतज्ञान की भावना से भव्य जीवों को ज्ञान सूर्य की किरणों के समान उद्योत रूप अर्थात् प्रकाशमान होता है, चरित्र चन्द्रमा के समान उज्ज्वल होता है तथा चित्त अपने वश में होता है।

कणय–धराधर–धीरं मूढ़त्तय विरहिदं हयट्ठमलं।
जायदि पवयण पढणे सम्मद्दंसणमणुवमाणं।।51

प्रवचन (परमागम) के पढ़ने से सुमेरूपर्वत के समान निश्चल, लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता, इन तीन (मूढ़ताओं) के रहित और शंका–कांक्षा आदि आठ दोषों से विमुक्त अनुपम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

सुरखेयर–मणुवाणं लब्भंति सुहाइं आरिसब्भासा।
तत्तो णिव्वाण–सुहं णिण्णासिद दारुणट्ठमला।।52

आर्ष वचनों के अभ्यास से देव–विद्याधर तथा मनुष्यों के सुख प्राप्त होते हैं और अंत में दारुण अष्ट कर्ममल से रहित मोक्षसुख की भी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार उपर्युक्त गाथाओं में शास्त्राभ्यास का फल बताया है। वह केवल विद्या व्यवसायी (विद्या को बेचने वाला) जिस प्रकार अध्ययन–अध्यापन करता है उसी प्रकार करने से यह फल नहीं मिलता है। यह विद्या अध्ययन " भुक्तये न च मुक्तये " अर्थात् भुक्ति के लिए, अर्थ उपार्जन के लिए है मुक्ति के लिए नहीं है और ऐसा अध्येता यदि स्वयं को स्वाध्यायी मानता है तो यह उसकी महान् भ्रान्ति है। श्रुतज्ञान के माध्यम से जो स्वात्माभिमुखी होकर स्वयं का दर्शन, मनन, चिंतन करता है वही श्रुतज्ञान का फल प्राप्त करता है। पूज्यपाद स्वामी ने प्रिय भक्ति (समाधि भक्ति) में कहा भी है :–

स्वात्माभिमुखसंवित्ति लक्षणं श्रुतचक्षुषा।
पश्यन्पश्यामि देव त्वां केवलज्ञान चक्षुषा।।1 (धर्मध्यान प्र. पृ. 105)

हे भगवन्! अपने आत्मा के स्वरूप में तल्लीन होने वाला ज्ञान ही आपका लक्षण है अर्थात् आपका स्वरूप केवलज्ञानमय है ऐसे आपको श्रुतज्ञान रूपी नेत्र से देखता हुआ केवलज्ञानरूपी नेत्र से देख रहा हूँ।

ऐसे स्वाध्याय करने वाले विरले ही निकट भव्य सम्यग्दृष्टि, ज्ञान वैराग्य से सम्पन्न व्यक्ति होते हैं। अधिकांश व्यक्ति तो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से टेप–रेकार्ड़ के समान विषय को मस्तिष्क में टेप कर लेते हैं, तो कुछ समय बिताने के लिये, मनोरंजन करने के लिये, परोपदेश पाण्डित्य बनने के लिये, दूसरों की गलती ढूंढकर उन्हें नीचा दिखाने के लिये, अर्थ उपार्जन के लिए, स्वमत पुष्टि के लिए, स्वार्थसिद्धि के लिये, बाह्य महानता प्रदर्शन के लिए भी धर्मग्रन्थ का अध्ययन करते हैं। कुछ व्यक्ति तो ज्ञान के मद में इतने चूर हो जाते हैं कि मदपायी व्यक्ति से भी अधिक मदोन्मत्त होकर गुरुजन, गुणीजन, जिनेन्द्र भगवान्, जिनवाणी का भी अपमान–अनादर करके अनन्त संसार को बढ़ाते हैं। इसलिये कुन्दकुन्द देव ने कहा कि जो शास्त्र अध्ययन करके मुनि चारित्र एवं श्रावक चरित्र का पालन करता है, वह भव्य ही मोक्ष प्राप्त करता है न कि केवल शब्द ज्ञान से मुक्ति होती है।

- कुछ पुस्तकें चलने मात्र की होती हैं, दूसरी निगाह डालने योग्य और कुछ ऐसी होती हैं, जिन्हें चबाया और पचाया जा सके। **(बेकन)**
- विचारों के युद्ध में पुस्तकें ही अस्त्र हैं। (बर्नार्ड शॉ)
- पुस्तकें वे विश्वस्त दर्पण हैं, जो संतों एवं शुरों के मस्तिष्क का परावर्तन हमारे मस्तिष्क पर करती हैं। **(गिब्बन)**
- बुरी पुस्तकों का पढना जहर पीने के समान है। **(टालस्टाय)**
- ग्रंथरहित कक्ष आत्मारहित देह के सदृश है। **(सिसरो)**
- ग्रंथ ऐसे अध्यापक हैं, जो बिना बेंत मारे, बिना कटु शब्द एवं क्रोध के बिना वस्त्र और धन के हमें शिक्षा प्रदान करते हैं। **(रिचार्ड डी. बरी)**
- पुराने वस्त्र धारण कर नई पुस्तकें खरीदिए। **(प्रस्टिन फिल्रस)**
- विश्व एक महान् पुस्तक है, जिसमें वे लोग, जो कभी घर से बाहर नहीं निकलते केवल एक पृष्ठ पढ़ पाते हैं। **(ऑगस्टाइन)**
- वह पुस्तक, जो बंद रखी है, वह केवल कागजों के ढेर के समान है। **(चीनी कहावत)**
- बिना ग्रंथ के भगवान् मौन है, न्याय निद्रित है, प्राकृतिक विज्ञान स्तब्ध है, दर्शन लँगड़ा है, शब्द गूँगें हैं और सभी वस्तुएँ पूर्ण अंधकार में हैं। **(बायोलिन)**
- मैं नरक में भी अच्छी पुस्तकों का स्वागत करूँगा, क्योंकि उनमें वह शक्ति है कि जहाँ ये होंगी वहीं स्वर्ग बन जायेगा। **(लोकमान्य तिलक)**

अनुच्छेद–8

आगमानुसार आचरण करने वाला मुनि श्रेष्ठ है–

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्चिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्तीआगमदो आगमचेट्ठा–तदो जेट्ठा ।।232 (प्रवचनसार)

He, who is concentrated on one thing alone, is a Shramana sush a concentration is possible for him whose comprehension of the objectivity is certain; this certainly (of knowledge) is possible from the study of scriptures; therefore application to the (study of) scripture is of the highest importance.

आगे कहते हैं कि जो अपने स्वरूप में एकाग्र है वही श्रमण है तथा सो एकाग्रता आगम के ज्ञान से ही होती है–

(एयग्गगदो) जो रत्नत्रय की तन्मयता को प्राप्त है वह (समणो) साधु है। (अत्थेसुणिच्छिदस्स) जिसके पदार्थों में श्रध्दा है उसके (एयग्ग) एकाग्रता होती है। (आगमदो णिच्छित्ती) पदार्थों का निश्चय आगम से होता है (तदो) इसलिए (आगमचेट्ठा) शास्त्रज्ञान में उद्यम करना (जेट्ठा) उत्तम है या प्रधान है। तीन जगत् व तीन कालवर्ती सर्व द्रव्यों के गुण और पर्यायों को एक काल में जानने को समर्थ सर्व तरह से निर्मल केवलज्ञान लक्षण के धारी अपने परमात्म–तत्व के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और चारित्र सो तन्मयता को एकाग्रता कहते हैं। उस तन्मयता को जो प्राप्त हुआ है सो श्रमण है। वह एकाग्रता निश्चय से साधु के होती है। टांकी में उकेरे के समान ज्ञाता दृष्टा एक स्वभाव का धारी जो परमात्मा पदार्थ है उसको आदि लेकर सर्व पदार्थों का निश्चय करने वाला जो साधु है उसी के एकाग्रता होती है तथा इन जीवादि पदार्थों का निश्चय आगम के द्वारा होता है। अर्थात् जिस आगम में जीवों के भेद तथा कर्मों के भेदादि का कथन हो उसी आगम के अभ्यास से पदार्थों का निश्चय होता है। केवल पढ़ने का ही अभ्यास न करें किन्तु आगमों में जो सारभूत जो चिदानंदरूप एक परमात्मतत्त्व का प्रकाशक अध्यात्म ग्रंथ है व जिसके अभ्यास से पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है उसका मनन करें। इसी कारण से ही उस ऊपर कहे गए आगम तथा परमागम में जो उद्योग है वह श्रेष्ठ है। ऐसा अर्थ है।

भाव की व्यग्रता से, चंचलता से या संकल्प विकल्प से कर्मास्रव एवं बंध होता है। इसके विपरीत भाव की स्थिरता से संवर निर्जरा होती है। यह एकाग्रता/स्थिरता पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले भेद विज्ञानी को होती है। यह भेद विज्ञान आगम से होता है इसलिए एकाग्रता तथा भेद विज्ञान के लिए आगम कारण है। अतः आगम का अभ्यास एवं आगम के अनुसार आचरण ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, प्रशस्त है क्योंकि बिना आगम छद्मस्थों को ज्ञान नहीं होगा, ध्यान नहीं होगा एवं चारित्र नहीं होगा। इसलिए ज्ञान, ध्यान और चारित्र के लिए आगम का अवलम्बन श्रेष्ठ कहा गया है। मूलाचार में कहा भी है–

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे।। (267) (1पृ.222)

जिससे तत्त्व का बोध होता है, जिससे मन का निरोध होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होता है जिन शासन में उसको ज्ञान कहते हैं।

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्ती पभाजेज्ज तं णाणं जिणसासणे।। (268)

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है जिनशासन में वह ज्ञान कहा गया है।

परियट्टणाय वायण पडिच्छणाणुपेहणा च धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ।। (393)

परिवर्तन, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा तथा स्तुति–मंगल संयुक्त पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना चाहिए।

बारसविधम्हिवि तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं।। (409)

कुशल महापुरुष के द्वारा देखे गये अभ्यन्तर और बाह्य ऐसे बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप न है और नहीं होगा।

सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू।। (410)

विनय से सहित हुआ मुनि स्वाध्याय को करते हुए पंचेन्द्रिय से संवृत और तीन गुप्ति से गुप्त होकर एकाग्रमनवाला हो जाता है।

आगम में वस्तु स्वरूप मोक्षोपायभूत रत्नत्रय एवं मोक्ष का वर्णन होने से आगम, अध्ययन से उस का परिज्ञान होता है एवं परिज्ञान से चारित्र परिमार्जन होता है। सम्यज्ञान मध्य दीपक के समान है जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र को प्रकाशित करता है। आगमाध्ययन ही पर्याप्त नहीं है इसके साथ–साथ इसका मनन और अनुकरण करने से ही कल्याण है इसलिए आचार्य भगवन्त ने कहा है 'आगम चेट्ठा–तदो जेट्ठा' अर्थात् आगम में जो उद्योग एवं आगमानुसार जो प्रवृत्ति आचरण/चारित्र है वह ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञान का फल रत्नत्रय की उपलब्धि है। सिद्धान्तग्रन्थ तिलोयपण्णति में कहा भी है–

इय णाय अवहारिय आइरिय परंपरागदं मणसा।
पुव्वाइरिया आराणुसरणअं त्ति–रयण–णिमित्तं ।। (84) पृ.18

इस प्रकार आचार्य परम्परा से प्राप्त हुए न्याय को मन से अवधारण करके पूर्व आचार्यों के आचार का अनुसरण करना रत्नत्रय का कारण है। महात्मा बुद्ध ने कहा है–

बहुम्पि चे सहितं भासमानो न तक्करो होति नरो पमत्तो।
गोपो व गावो गणयं परेसं न भागवा सामंजस्य होति।।19 पृ.6

चाहे कोई भले ही बहुत से ग्रन्थों का पाठ करने वाला हो किन्तु प्रमाद में पड़कर यदि उसके अनुसार आचरण न करे, तो वह दूसरों की गौवें गिनने वाले ग्वाले की

भाँति श्रामण्य का अधिकारी नहीं होता।

अप्पम्पि चे सहितं भासमानो धम्मस्स होति अनुधम्मचारी।
रागंच दोसंच पहाय मोहं सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो।।

चाहे कोई भले ही थोड़े ग्रन्थों का पाठ करने वाला हो, किन्तु धर्मानुकूल आचरण करता हो राग–द्वेष और मोह को छोड़ सचेत और मुक्त चित्त वाला हो तथा इस लोक या परलोक में कहीं भी आसक्ति न रखंता हो तो वह श्रामण्य का अधिकारी होता है।

आगम हीन श्रमण का कर्मक्षय नहीं होता है–

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।। (233)

The Shramana, who is lacking in the study of scripture, does not know his self and the things other than self; without knowing the objectivity how can the monk destroy the Karmas?

आगे कहते है कि जिसको आगम ज्ञान नहीं है उसके कर्मों का क्षय नहीं हो सकता है।

(आगमहीणो) शास्त्र के ज्ञान से रहित (समणो) साधु (णेवप्पाणं पर) न तो आत्मा को न पर को (वियाणदि) जानता है। (अट्ठे अविजाणंतो) परमात्मा आदि पदार्थों को नहीं जानता हुआ (भिक्खू) साधु (किह) किस तरह (कम्माणि) कर्मों का (खवेदि) क्षय कर सकता है ?

"गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य ।
उवओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा।।"

श्रीगोम्मटसार जीवकाण्ड में 20 प्ररूपणा का कथन है–यथा-

1. गुणस्थान, 2. जीवसमास, 3. पर्याप्ति, 4.प्राण, 5. संज्ञा, 6. गतिमार्गणा, 7. इन्द्रिय. मा., 8. काय मा., 9. योग मा. 10. वेद मा., 11. कषाय मा., 12. ज्ञान मा., 13. संयम मा., 14. दर्शन मा., 15. लेश्या मा., 16. भव्य मा., 17. सम्यक्त्व मा., 18. संज्ञी मा. , 19. आहार मा., 20. उपयोग मा.।। जिसने इन बीस प्ररूपणा के आगम को नहीं जाना तथा–

भिण्णउ जेण ण जाणियउ णियदेहहंपरमत्थं।
सो अंधउ अवरहंकिम दरिसावइ पंथु ।।

इस दोहा सूत्र का भाव यह है कि जिसमें अपनी देह से परमपदार्थ आत्मा को भिन्न नहीं जाना वह आर्तरौद्र ध्यानी किस तरह अपने आत्मपदार्थ को देख सकता है। इस प्रकार के आगम में सारभूत अध्यात्मशास्त्र को जिसने नहीं जाना अर्थात् बीस प्ररूपणाओं के शास्त्र को और अध्यात्मशास्त्र इन दोनों शास्त्र को नहीं जाना, वह पुरुष रागादि दोषों से रहित तथा अव्याबाध सुख आ की रूचि नहीं होती है और न उसकी भावना सर्व रागादि का त्याग करने की होती है, ऐसी दशा में उसके कर्मों का क्षय किस तरह हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता है। इसी कारण से मोक्षार्थी पुरुष को परमागम का अभ्यास ही करना योग्य है, ऐसा तात्पर्य है।

वास्तव में आगम के बिना परात्मज्ञान या परमात्मज्ञान नहीं होता और परात्मज्ञान शून्य के या परमात्मज्ञान शून्य के मोहादि द्रव्य भावकर्मों का या ज्ञप्ति परिवर्तन (जाननेरूप) क्रिया का परिवर्तनरूप कार्य का क्षय नहीं होता। वह इस प्रकार है कि प्रथम तो, आगमहीन यह जगत् कि, जो निरवधि (अन्त) संसार रूप नदी के प्रवाह को बहाने वाले (पंच परिवर्तन करने वाले) महामोहमल से मलीन है, वह धतूरा पिए हुए मनुष्य की भांति विवेक के नाश को प्राप्त होने से अविविक्त ज्ञान ज्योति से यद्यपि देखता है तथापि उसे स्व–पर निश्चयक आगमोपदेश पूर्वक स्वानुभव के अभाव के कारण, आत्मा में और आत्म प्रदेश में स्थित शरीरादि द्रव्यों में तथा उपयोग मिश्रित मोह, राग, द्वेषादि भावों में "यह पर है और यह आत्मा है" ऐसा ज्ञान सिद्ध नहीं होता है तथा उसे परमात्मनिश्चायक आगमोपदेशक पूर्वक स्वानुभव के अभाव के कारण, जिसके त्रिकाल परिपाटी में विचित्र पर्यायों का समूह प्रकट होता है ऐसे अगाध गम्भीर स्वभाव वाले विश्व को ज्ञेय रूप करके प्रतापवान् ज्ञान स्वभावी एक परमात्मा का ज्ञान भी सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार जो,1.परात्मज्ञान से 2.परमात्मज्ञान से शून्य है उसे 1. द्रव्यकर्म से होने वाले शरीरादि के साथ तथा तत्संबंधी मोहराग द्वेषादि भावों के साथ एकता का अनुभव करने के कारण वध्यघातक (द्रव्य कर्म) के विभाग का अभाव होने से मोहादि द्रव्य–भाव कर्मों का क्षय सिद्ध नहीं होता तथा 2.ज्ञेयनिष्ठता से प्रत्येक वस्तु के प्रति उत्पाद विनाश रूप परिणमित करने के कारण अनादि संसार से परिवर्तन को पाने वाली जो ज्ञप्ति उसका परिवर्तन परमात्म निष्ठता के अतिरिक्त अनिवार्य होने से, ज्ञप्ति परिवर्तन रूप कार्य का क्षय भी सिद्ध नहीं होता। इसलिए कर्मक्षयार्थियों को सर्व प्रकार से आगम की पर्युपासना करना योग्य है।

जिस प्रकार घने अन्धकार में ग्रहणीय व त्यजनीय वस्तु का स्पष्ट प्रतिभास नहीं होता है इसलिए कभी–कभी रस्सी को चाहने वाला भी सर्प को ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार आगम ज्ञान से रहित जीव स्व–स्वरूप एवं पर स्वरूप को न जानने के कारण पर स्वरूप को त्याग नहीं कर पाता है एवं स्व–स्वरूप को ग्रहण नहीं कर पाता है क्योंकि जीव अनादि काल से मिथ्यादृष्टि होने के कारण वस्तु स्वरूप को नहीं जानता है। सम्यग्दर्शन के लिए बाह्य निमित्त में देशना लब्धि अनिवार्य है। बिना देशना लब्धि कभी भी किसी को प्रथम उपशम सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता है। बिना सम्यग्दर्शन ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता है। बिना सम्यग्ज्ञान के श्रेय–अश्रेय, ग्रहणीय–अग्रहणीय को नहीं जान सकता है। जब श्रेय–अश्रेय, ग्रहणीय को नहीं जान सकेगा तब किसे ग्रहण करेगा किसे त्याग करेगा। इसलिए मोक्षमार्ग के लिए आगम ज्ञान होना अनिवार्य है। मूलाचार में कहा भी है–

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि ।।905 भाग 2 पृ.115

सम्यक्त्व से ज्ञान होता है, ज्ञान से सभी पदार्थों का बोध होता है और सभी पदार्थों को जानकर पुरुष हित–अहित को जान लेते हैं।

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवं होदि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहदि णिव्वाणं।।906

श्रेय और अश्रेय के ज्ञाता दुःशील का नाश करके शीलवान् होते हैं, पुनः उस शील के फल से अभ्युदय तथा निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते हैं।

भगवती आराधना में भी वही ज्ञान को ज्ञान कहा है, जिससे जीव हित को प्राप्त करता है, अहित से निवृत्त होता है, मोह को प्राप्त नहीं होता है। यथा–

णिउणं विउलं सुद्धं णिकाचिदणुत्तरं च सव्वहिदं।
जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पडिदव्वं ।।98 पृ.130

निपुण, विपुल, शुद्ध अर्थ से पूर्ण सर्वोत्कृष्ट और सब प्राणियों का हित करने वाला द्रव्यकर्म भाव–कर्मरूपी मल का नाशक जिनवचन रात–दिन पढ़ना चाहिए।

आदहिदपइण्णा भावसंवरो णवणवो या संवेगो।
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च ।।99

आत्महित का ज्ञान होता है, भाव संवर होता है, नवीन–नवीन संवेग होता है, रत्नत्रय में निश्चलता होती है। स्वाध्याय तप होता है और भावना होती है। और दूसरों को उपदेश करने की क्षमता होती है।

णाणेण सव्वभावा जीवाजीवासवादिया तधिगा।
णज्जदि इह परलोए अहिदं च तहा हियं चेव।100

ज्ञान के द्वारा जीव, अजीव, आस्रव आदि सब पदार्थ तथ्यभूत जाने जाते है। उसी प्रकार से इस लोक और परलोक में अहित और हित जाना जाता है।

आदहिदमयाणंतो मुज्झदि मूढ़ो समादियदि कम्मं।
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं।101

आत्मा के हित को न जानने वाला मोहित होता है, मोहित हुआ कर्म को ग्रहण करता है। और कर्म का निमित्त पाकर जीव (अणंत) अनन्त भवसागर में भ्रमण करता है।

जाणंतस्सादहिदं अहिदणियत्ती य हिदपवत्ती य।
होदि य तो से तम्हा आदहिदं आगमेदव्वं।।102

आत्महित को जानने वाले के अहित से निवृत्ति और हित में प्रवृत्ति होती है। हिताहित के ज्ञान के पश्चात् उसका हिताहित भी जानता ही है। इसलिए (आदहिदं) आत्महित को आगम से सीखना चाहिए।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि तो बिना देशना लब्धि तथा आगम श्रद्धान से नहीं होती है। इतना ही नहीं, आगम के बिना श्रावक चारित्र एवं मुनि चारित्र का भी ज्ञान नहीं होता है। जब चारित्र का, कर्त्तव्य का परिज्ञान नहीं है तब परिपालन कैसे करेगा ? जब परिपालन ही नहीं करेगा तो कर्म क्षय कैसे होगा ? अर्थात् कर्मक्षय नहीं कर सकता इसलिए जब तक केवलज्ञान नहीं हो जाता तब तक परोक्षभूत केवलज्ञान स्वरूप आगम का सतत अध्ययन, मनन, अनुसरण–अनुकरण करना चाहिये। यह इस गाथा का अभिप्राय है।

अनुच्छेद-9

विभिन्न जीव के विभिन्न चक्षु

आगम चक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिंचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू।।(234)

The saints have scriptures as their eyes; all the living beings have senseorgans as their eye; the gods have clairvoyance as their eyes ; and the Siddhas have eyes in every way .

आगे कहते है कि मोक्षमार्ग पर चलने वालो के लिए आगम ही चक्षु है–

(साहू) साधु महाराज (आगमचक्खू) आगम के नेत्र से देखने वाले हैं। (सव्वभूदाणि) सर्वसंसारी जीव (इंदियचक्खूणि) इन्द्रियों के द्वारा जानने वाले हैं (देवा य ओहिचक्खू) और देवगण अवधिज्ञान से जानने वाले हैं। (पुण) परन्तु (सिद्धसव्वदो चक्खू) सिद्ध भगवान् सब तरफ से सब देखने वाले हैं।

निश्चय–रत्नत्रय के आधार से निज शुद्धात्मा के साधने वाले साधुगण की चक्षु शुद्धात्मा आदि पदार्थों का कथन करने वाला परमागम है। सर्व संसारी जीव निश्चयनय से अतीन्द्रिय और अमूर्त केवल ज्ञानादि गुण स्वरूप है। व्यवहारनय से अनादि कर्मबंध के वश से इन्द्रियाधीन है अतः वे संसारी जीव इन्द्रियों के द्वारा जानते हैं। चार प्रकार के देव भी सूक्ष्म मूर्तिक पुद्गल द्रव्य को जानने वाले अवधिज्ञान के द्वारा देखते हैं। सिद्धभगवान् शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमयी जीव–अजीव से भरे हुये लोकाकाश के प्रमाण, जो अपने शुद्ध असंख्यात प्रदेश–उन सर्वप्रदेशों से देखते हैं। इससे यह बात कही गई है कि सर्व शुद्धात्मा के प्रदेशों से देखने की योग्यता के लिये मोक्षार्थी पुरुषों को उस स्वसंवेदन ज्ञान की ही भावना करनी चाहिये। वह स्वसंवेदन ज्ञान निर्विकार है और परमागम के उपदेश से उत्पन्न होता है।

प्रत्येक जीव द्रव्य दृष्टि से अनन्त दर्शन से एवं अनन्त ज्ञान से युक्त होने पर भी ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्मरूपी आवरण से आवृत्त होने के कारण जितने–जितने अंश में क्षयोपशम होता है, उतने–उतने अंशों से वह देखता है एवं जानता है। सिद्धजीव समस्त कर्म आवरणों से रहित होने के कारण वे समस्त आत्म प्रदेशों से देखते हैं एवं जानते हैं। इसलिए सिद्ध को सर्वतः चक्षु कहा गया है। क्योंकि सिद्ध के प्रत्येक आत्म प्रदेश में अनन्त ज्ञान, दर्शन की शक्ति होती है। देव पर्याय में भव प्रत्यय अवधिज्ञान सब देवों को अवश्य होता है और वे अपने–अपने अवधिज्ञान से स्व–स्व मूर्तिक वस्तु को देखते हैं एवं जानते हैं। यदि सम्यग्दृष्टि देव है तो उसका ज्ञान सुअवधि होगा और मिथ्यादृष्टि देव है तो उसका ज्ञान कुअवधि होगा। परन्तु होगा अवश्य ही। भले कुछ देव के अल्प ज्ञान रहता है तो कुछ देव के अधिक। यहाँ जो देव को अवधि चक्षु वाला बताया गया है इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि इनकी चक्षु इन्द्रियाँ नहीं होती है। परन्तु इनकी भी इन्द्रियाँ चक्षु अवश्य होती है क्योंकि सब देव पंचेन्द्रिय होते हैं और प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थानवर्ती होते हैं। परन्तु

यहाँ पर मुख्यता से अवधिज्ञान को स्वीकार किया गया है क्योंकि इन्द्रिय चक्षु से इनका अवधिज्ञान अधिक प्रबल होता है।

इसलिए यहाँ अवधिज्ञान को स्वीकार किया गया है। साधु मनुष्य गति के होने के कारण वे संज्ञी पंचेन्द्रिय अवश्य होते है। वे सम्यग्दृष्टि होने के कारण मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के धारी होते हैं। तथापि यहाँ पर जो 'आगम चक्खू साहू' कहा उसका एक विशेष आध्यात्मिक रहस्य है। वह रहस्य यह है कि साधु आगम से ही समस्त विषयों को जानता है, भेद विज्ञान करता है, हित–अहित का विवेक करता है, षट्द्रव्य, सप्त तत्व, नव पदार्थ, मोक्षमार्ग का परिज्ञान करता है, साधु चारित्र का परिज्ञान करके उसके अनुसार आचरण करके मोक्ष प्राप्त करता है। यह सब इन्द्रियों से मतिज्ञान से तथा सामान्य श्रुतज्ञान से भी नहीं हो सकता है इसलिए साधु का चक्षु आगम होती है। इतना ही नहीं, कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने कहा है–'आगम चेट्ठा तदो जेट्ठा' अर्थात् आगम के अनुसार जो चेष्टा करता है, चारित्र पालन करता है वह ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है। इससे सिद्ध होता है आगम में तो सैद्धान्तिक मुनि धर्म का वर्णन है परन्तु श्रमण प्रायोगिक मुनि धर्म है और भी एक सिद्धान्त फलित यह होता है कि जिस प्रकार हम आगम से सिद्ध को सर्वतः चक्षुरूप से जानते हैं उसी प्रकार हमें भी आगम के अनुकूल साधना करते हुए सर्वत्र चक्षु बनना चाहिए।

आगम चक्षु से श्रमण सर्व अर्थ को जानता है

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चत्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा।। (235)

All the objects, with their various qualities and modification,are known from the scriptures; those,who know them learning from the scriptures, are the Shramanas.

आगे कहते हैं कि आगम के लोचन से सर्व दिखता है–

(चित्तेहिं गुण पज्जएहिं) नाना प्रकार गुण पर्यायों के साथ (सव्वे अत्था) सर्व पदार्थ (आगमसिद्धा) आगम से सिद्ध है। (आगमेण) आगम के द्वारा (तेवि) उन सबको(हि पेच्छित्ता) यथार्थ देखकर (जाणंति) जो जानते हैं (ते समणा) वे ही साधु हैं।

विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी परमात्म पदार्थ को लेकर सर्व ही पदार्थ तथा उनके सर्वगुण और पर्याय परमागम के द्वारा जाने जाते हैं, क्योंकि परोक्ष रूप आगम केवलज्ञान के समान है। आगम द्वारा पदार्थों को जान लेने पर जब स्वसंवेदन ज्ञान पैदा हो जाता है तब उस स्वसंवेदन के बल से जब केवलज्ञान पैदा होता है तब वे ही सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इसलिए आगम चक्षु के द्वारा परम्परा से सर्व ही प्रत्यक्ष दिख जाता है। इसलिए आगम में प्रतिपादित सम्पूर्ण विषय सत्य है, सिद्धान्त है अतः सर्वज्ञ का वचन ही प्रवचन है, क्योंकि इनका ही वचन अज्ञानता से, राग–द्वेष से, विपरीतता से, संशय से, अनध्यवसाय से, पक्ष–पात से रहित होने के कारण प्रवचन है। (प्र+वचन) अर्थात् प्रकृष्ट वचन है। इनकी कथन प्रणाली अनेकान्तात्मक, स्याद्वाद से युक्त होने के कारण उनके वचन या आगम को स्याद्वाद भी कहते हैं। अतः

केवलज्ञान में जो प्रत्यक्षभूत सत्य है वही परोक्ष रूप में आगम है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है यथा–

स्याद्वाद–केवलज्ञाने सर्वतत्व–प्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।। 105 (देवागम पृ. 99)

स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों (जीवादि) सब तत्वों के प्रकाशक हैं। दोनों के प्रकाशन में साक्षात् और असाक्षात्–परोक्ष का भेद है। केवलज्ञान जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वों का प्रत्यक्षतः एवं युगपत् प्रकाशक है और स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान इन पदार्थों का अप्रत्यक्षतः (परोक्षरूप से) क्रमशः प्रकाशक है इन दोनों ज्ञानों में से जो किसी भी ज्ञान के द्वारा प्रकाशित अथवा उसका वाच्य नहीं वह अवस्तु होती है।

- विद्या विनय को देती है, नम्रता से योग्यता मिलती है, योग्यता से धन, धन से धर्म और धर्म से सुख की प्राप्ति होती है। **(हितोपदेश)**
- विद्या का अंतिम लक्ष्य चरित्र–निर्माण होना चाहिए। **(महात्मा गांधी)**
- परमात्मा को प्राप्त कराने वाली विद्या ही वास्तव में विद्या है। **(स्वामी विवेकानंद)**
- जैसे कुदाली से खोदकर मनुष्य पाताल के जल को प्राप्त करता है, वैसे ही गुरुगत विद्या सेवा से प्राप्त होती है। **(चाणक्य)**
- जो मानव अपनी विद्या और ज्ञान को कार्यरूप में परिणत कर सकता है, वह दर्जनों कल्पना करने वालों से श्रेष्ठ है। **(एमर्सन)**
- सुख चाहने वाले को विद्या कहाँ ? विद्या चाहने वालों को सुख कहाँ? सुख की चाह हो, तो विद्या छोड़ दे और विद्या चाहिए, तो सुख का त्याग करे। **(महाभारत)**
- सुकर्म विद्या का अंतिम लक्ष्य होना चाहिए। **(सर पी. सिडनी)**
- शिक्षा जीवन की परिस्थितियों का सामना करने की योग्यता का नाम है। **(डॉ. जान जी. हिबन)**
- शिक्षा का मतलब है, व्यक्ति का समाजोपयोगी विकास। **(जैनेन्द्रकुमार)**
- शिक्षा मानवात्मा के लिए वैसी ही है, जैसे संगमरमर के टुकड़े के लिए शिल्पकला। **(एडीसन)**
- जीवन को सफल बनाने के लिए शिक्षा की जरूरत है, डिग्री की नहीं। हमारी डिग्री है– हमारा सेवा–भाव, हमारी नम्रता, हमारे जीवन की सरसता। अगर यह डिग्री नहीं मिली, अगर हमारी आत्मा जाग्रत न हुई, तो कागज की डिग्री व्यर्थ है। **(प्रेमचन्द)**

अनुच्छेद–10

केवल शास्त्रों से नहीं होती है आत्मोपलब्धि

(अयथार्थ ग्रहण ही संसार तत्त्व)

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं।। (271) प्रवचनसार

Those, who have wrongly grasped the nature of realities and are sure (in their mistaken way) that the reality, according to the creed, in such wander long(till infinity) in mundane existence which is full with the fruits of misery.

अब संसार का स्वरूप प्रगट करते हैं–(जे) जो कोई (अजधागहिदत्था) अन्य प्रकार से असत्य पदार्थों के स्वभाव को जानते हुए (एदे तच्च त्ति समये) ये ही आगम में तत्त्व कहें हैं ऐसा (णिच्छिदा) निश्चय कर लेते हैं (ते तो) वे साधु इस मिथ्या श्रद्धान व ज्ञान के कारण भाविकाल में (अच्चंतफलसमिद्धं) अनन्त दुःखरूप फल से भरे हुए संसार में (परं कालं) अनन्त काल तक (भमंति) भ्रमण करते हैं। (जो) कोई साधु या अन्य आत्मा सातत्तत्त्व, नवपदार्थों का स्वरूप स्याद्वाद नय के द्वारा यथार्थ न जानकर और का और श्रद्धान कर लेते हैं और यही निर्णय कर लेते हैं कि आगम में तो यही तत्त्व कहे हैं, वे मिथ्या श्रद्धानी या मिथ्याज्ञानी जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव स्वरूप पांच प्रकार संसार के भ्रमण से रहित शुद्ध आत्मा की भावना से हटे हुए इस वर्तमान काल से आगे भविष्य में भी नरकादि दुःखों से अत्यन्त कटुक फलों से भरे हुए संसार में अनन्त काल तक भ्रमण करते रहते हैं। इसलिए इस तरह संसार भ्रमण में परिणमन करने वाले पुरुष ही अभेदनय से संसार स्वरूप जानने योग्य हैं।

जो स्वयं अविवेक से पदार्थों को अन्यथा ही समझ करके ऐसा ही तत्व है, ऐसा निश्चय करते हुए, निरन्तर एकत्र किये जाने वाले महामोहमल से मलिन मन वाले होने से नित्य अज्ञानी हैं, वे समय में आगम में स्थित होने पर भी परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से वास्तव में श्रमणाभास वर्तते हुए, अनन्त कर्मफल की उपभोग राशि से भयंकर ऐसे अनन्त काल तक अनन्त भवान्तर रूप परावर्तनों से (संसार में) अनवस्थित वृत्ति वाले रहने से उनको संसार तत्त्व ही जानना अर्थात् वे संसार में परिभ्रमण करते हैं।

समीक्षा– जिस प्रकार दृष्टि दोष से वस्तु जैसी है वैसी दिखाई नहीं देती अन्य रूप दिखाई देती है उसी प्रकार जिसकी श्रद्धा में दोष है वह भी वस्तु स्वरूप को आगम में पढ़ते हुए भी अन्यथा ही ग्रहण करता है। जैसे पीलिया रोगी सफेद वस्तु को भी पीले रूप में देखता है और जिसने काला चश्मा पहन लिया है उसको हर वस्तु काली दिखाई देती है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव आगम में वर्णित यथार्थ वस्तु को भी जैसी नहीं है वैसी समझता है। इस अयथार्थ ग्रहण रूप मिथ्यात्व के कारण जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। परन्तु आगे भी जब तक मिथ्यात्व

का त्याग नहीं करेगा तब तक अनन्त संसार में परिभ्रमण करता रहेगा। इससे सिद्ध होता है कि केवल मिथ्या शास्त्र के अध्ययन से ही मिथ्याज्ञान नहीं होता है परन्तु सच्चे जैनागम के अध्ययन से भी मिथ्यात्व के उदय में भी मिथ्याज्ञान हो जाता है। क्योंकि ज्ञेय मिथ्याज्ञान के लिए कारण नहीं है परन्तु मिथ्यात्वरूप भाव ही मिथ्यात्व के लिए कारण है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में भी उल्लू को दिखाई नहीं देता इसमें सूर्य का प्रकाश दोषी नहीं बल्कि उल्लू का क्षयोपशम ज्ञान ही दोषी है। कभी–कभी जीव रोग के कारण, दृष्टि दोष के कारण या मरण के पहले एकचन्द्र को दो चन्द्र रूप से देखता है, एक वस्तु को दो वस्तु रूप में देखता है। इसमें वस्तु दोषी नहीं बल्कि उसका ज्ञान ही दोषी है। इसी प्रकार मोहोदय से जीव सर्वज्ञ प्रतिपादित यथार्थ उपदेश का श्रद्धान नहीं करता है परन्तु अयथार्थ स्वरूप को उपदेश या अनुपदेश से भी श्रद्धान कर लेता है और यह मोह भाव ही संसार होने के कारण उस मोह से युक्त जीव ही संसार स्वरूप है न कि द्रव्यमय विश्व/संसार है। इस विश्व में सिद्ध भी रहते हैं तथापि वे संसारी नहीं हैं क्योंकि उनके भाव संसार नहीं है। क्योंकि भाव संसार ही उपादान रूप से संसार है क्योंकि इससे ही जीव चतुर्गति रूपी भव में संसरण करता है।

महात्मा बुद्ध ने भी कहा है कि सद्धर्म से रहित व्यक्ति का संसार परिभ्रमण लम्बा होता है। यथा––

दीघा जागरतो रत्ति दीघं सन्तस्स भेजनं।
दीघो बालानं संसारो सद्धम्मं अविजानतं।।1 पृ.21 धम्मपद

जागने वाले के लिए रात लम्बी होती है, थके हुए के लिए योजन लम्बा होता है, सद्धर्म को न जानने वाले मूढ़ों के लिए संसार (चक्र) लम्बा होता है।

परमात्म प्रकाश में भी कहा है––

बुज्झइ सत्थइँ तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ।
ताव ण मुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ।।82 पृ.201

शास्त्रों को जानता है और तपस्या करता है लेकिन परमात्मा को नहीं जानता है और जब तक पूर्व कथित परमात्मा को नहीं जानता या अनुभव नहीं करता, तब तक कर्मों से नहीं छूटता। **यद्यपि व्यवहार नय से आत्मा अध्यात्म शास्त्रों से जाना जाता है, तो भी निश्चयनय से वीतरागस्वसंवेदन ज्ञान से ही जानने योग्य है।** यद्यपि बाह्य सहकारी कारण अनशनादि बारह प्रकार के तप से साधा जाता है तो भी निश्चयनय से निर्विकल्प वीतराग चारित्र से ही आत्मा की सिद्धि है। जिस वीतराग चारित्र का शुद्धात्मा में विश्राम होना ही लक्षण है उस वीतराग चारित्र के बिना आगमज्ञान से तथा बाह्य तप से आत्मज्ञान की सिद्धि नहीं है।

जब तक निज शुद्धात्मतत्त्व के स्वरूप का आचरण नहीं है तब तक कर्मों से नहीं छूटता यह निसंदेह जानना। जब तक परमतत्त्व को न जाने, न श्रद्धा करे, न अनुभव करे तब तक कर्मबन्ध से नहीं छूटता। इससे ही निश्चय हुआ कि कर्मबन्ध से छूटने का कारण एक आत्मज्ञान है और शास्त्र का ज्ञान भी आत्मज्ञान के लिए ही किया जाता है। **जैसे दीपक से वस्तु को देखकर वस्तु को उठा लेते हैं और दीपक को छोड़ देते हैं उसी तरह शुद्धात्मतत्त्व के उपदेश करने वाले जो**

अध्यात्मशास्त्र उनसे शुद्धात्मतत्त्व को जानकर उस शुद्धात्मा का अनुभव करना चाहिए और शास्त्र का विकल्प छोड़ना चाहिए। शास्त्र तो दीपक के समान है, तथा आत्म वस्तु रत्न के समान है।

सत्थु पढ़ंतु वि होइ जडु जो ण हणेइ वियप्पु।
देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु।।83

जो जीव शास्त्र को पढ़ते हुए भी विकल्प दूर नहीं करता वह मूर्ख है, जो विकल्प नहीं मेटता और देह में स्थित भी निर्मल परमात्मा को श्रद्धान में नहीं लाता, वह मूर्ख है। शास्त्राभ्यास का तो फल ही यह है कि रागादि विकल्पों को दूर करना और निज शुद्धात्मा का ध्यान करना। इसीलिए हमें व्याख्यान को जानकर तीन गुप्तियों में अचल हो परमसमाधि में आरूढ़ होकर निज स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। लेकिन जब तक तीन गुप्तियाँ न हो परमसमाधि न आवे तब तक विषय कषायों को हटाने के लिए पर जीव को धर्मोपदेश देना चाहिए। किन्तु फिर भी परोपदेश के बहाने मुख्यता अपने जीव को यानी अपने आप को ही सम्बोधित करना चाहिए। पर को उपदेश देते अपने को समझावे। जो मार्ग दूसरों को छुड़ावे वह आप कैसे करे ? इससे मुख्य सम्बोधन स्वयं को ही है परजीवों को ऐसा उपदेश है, जो यह बात मेरे मन में अच्छी नहीं लगती तो, तुमको भली नहीं लगती होगी, तुम भी अपने मन में विचार करो।

बोह–णिमित्त सत्थु किल लोइ पढिज्जइ इत्थु।
तेण वि बोहु ण जासु वरु सो किं मूढु ण तत्थु।।84

इस लोक में नियम से ज्ञान के निमित्त ही शास्त्र पढ़े जाते हैं परन्तु शास्त्रों को पढ़ने से भी जिसको उत्तम ज्ञान नहीं हुआ क्या वह मूर्ख नहीं है? वह मूर्ख ही है, इसमें सन्देह नहीं। यद्यपि लोकव्यवहार से कवि, गमक, वादी, वाग्मीपने का ज्ञान शास्त्रजनित ज्ञात होता है तो भी निश्चयनय से वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान की–ही अध्यात्मशास्त्रों में प्रशंसा की गई है। स्वसंवेदन ज्ञान के बिना शास्त्रों के पढ़े हुए भी मूर्ख है और जो कोई परमात्मज्ञान के उत्पन्न करने वाले थोड़े शास्त्रों को भी जान कर भी वीतराग–स्वसंवेदनज्ञान की भावना करते हैं वे सिद्ध हो जाते हैं। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है– "मोहशत्रु को जीतने वाले वैराग्य परायण वीर थोड़े शास्त्रों को ही पढ़कर सुधर जाते हैं–सिद्ध हो जाते हैं और वैराग्य के बिना सब शास्त्रों को पढ़ते हुए भी मुक्त नहीं होते।" परन्तु यह कथन अपेक्षा से है। इस बहाने से शास्त्र पढ़ने का अभ्यास नहीं छोड़ना और जो विशेष शास्त्र के पाठी हैं उनको दोष न देना। "जो शास्त्र के अक्षर तो बता रहा है किन्तु आत्मा में चित्त नहीं लगाता उसे ऐसा जानना जैसा किसी ने कण रहित बहुत भूसे का ढेर कर लिया हो, वह किसी काम का नहीं है।" इत्यादि पाठ मात्र सुनकर जो विशेष शास्त्रज्ञ हैं उनकी निंदा

नहीं करनी चाहिए और जो बहुश्रुत हैं उनको भी अल्पशास्त्रज्ञों की निंदा नहीं करनी करनी चाहिए क्योंकि पर के दोष ग्रहण करने से राग द्वेष की उत्पत्ति होती है, उससे ज्ञान और तप का नाश होता है, यह निश्चय से जानना चाहिए।

शुद्धाचार से होती है आत्मोपलब्धि
(यथार्थ ग्रहण ही मोक्षतत्त्व)

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो।।272

He, who has abstained from improper conduct,who is certain about the nature of reality exactly as it is,whose Soul is peaceful and who maintains perfect asceticism her,will not live long without attaining, the fruit (of liberation).

आगे मोक्ष का स्वरूप प्रकाश करते हैं।–

(अजधाचारविजुत्तो) विपरीत आचरण से रहित, (जधत्थपदणिच्छिदो) यथार्थ पदार्थों का निश्चय रखने वाला तथा (पसंतप्पा) शांत स्वरूप (संपुण्ण सामण्णो) पूर्ण मुनि पद का धारी (सो) ऐसा साधु (इह अफले) इस असार संसार में (चिरं ण जीवदि) बहुत काल नहीं जीता है।

निश्चय व्यवहार में सम्यग्दर्शन–सम्यज्ञान–सम्यग्चारित्र–सम्यग्तप–सम्यग्वीर्य ऐसे पाँच आचारों की भावना में परिणमन करते रहने से जो अयथाचार व विरुद्ध आचार से रहित है, सहज ही आनन्दरूप एक स्वभावधारी अपने परमात्मा को आदि लेकर पदार्थों के ज्ञान सहित होने से जो यथार्थ वस्तु स्वरूप का ज्ञाता है तथा विशेष परम शान्त भाव में परिणमन करने वाले अपने आत्मद्रव्य की भावना सहित होने से जो शान्तात्मा है। ऐसा पूर्ण साधु शुद्धात्मा के अनुभव से उत्पन्न सुखामृत रस के स्वाद से रहित ऐसे इस फल–रहित संसार में दीर्घकाल तक नहीं ठहरता है। अर्थात् शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस तरह मोक्ष तत्त्व में लीन पुरुष ही अभेद नय से मोक्ष स्वरूप है ऐसा जानने योग्य है।

समीक्षा–पूर्वोक्त गाथा नं. 271 में आचार्य श्री ने अयथार्थ ग्रहण को संसार कहा है। तो इससे विपरीत यथार्थ ग्रहण मोक्ष तत्त्व है ऐसा कथन किया है है ऐसा कथन किया है। स्व के लिए स्व आत्मतत्त्व का श्रद्धान, ज्ञान एवं ग्रहण ही यथार्थ ग्रहण है और यह ही मोक्ष है।

ऐसा कथन किया है। **स्व के लिए स्व आत्मतत्त्व का श्रद्धान, ज्ञान एवं ग्रहण ही यथार्थ ग्रहण है और यह ही मोक्ष है। इसलिए जिस प्रकार संसार तत्त्व स्वयं जीव है उसी प्रकार मोक्ष तत्त्व भी स्वयं जीव ही है क्योंकि रत्नत्रय की पूर्णता या स्व उपलब्धि ही मोक्ष होने के कारण यह मोक्ष भी स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल को छोड़कर अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल में नहीं रहता है। इसलिए जो अनन्त सुख स्वरूप स्वस्वरूप को प्राप्त कर लेता है वह अनन्त दुःख**

रूप संसार से च्युत हो जाता है। इसलिए मोक्ष, सुख और शान्ति चाहने वालों को यह सब बाहर नहीं ढूंढना चाहिए किन्तु स्वयं में ही शोध बोध एवं उपलब्धि करना चाहिए। इसलिए तो जो तत्त्ववेत्ता होते हैं वे न संसार के वैभव से प्रलोभित होते हैं न द्रव्य नरक के दुःख से भयभीत होते हैं क्योंकि उन्हें पूर्ण विश्वास एवं ज्ञान है कि सम्पूर्ण दुःख हो या सुख स्वयं में ही निहित है बाह्य में नहीं।

स्व शुद्धात्मोपलब्धि ही परमसत्योपलब्धि

(परमयोगी ही मोक्षमार्ग एवं मोक्ष स्वरूप है)–

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा।। (273)

Those, that have grasped all things, prorerly, have renounced (attachment for) external and internal paraphernalia and are not steeped in pleasures of senses, are called the pure or SUDDHA.

आगे मोक्ष का कारण तत्त्व बताते हैं–

(जे) जो (सम्मं विविदपदत्था) भले प्रकार पदार्थों को जानने वाले हैं और (बहित्थम्) बाहरी क्षेत्रादि परिग्रह (मज्झत्थं) और अंतरंग रागादि (उवहिं) परिग्रह को (चत्ता) त्याग कर (विसयेसु) पांचों इन्द्रियों के विषयों में (णावसत्ता) आसक्त नहीं है। (ते) वे साधु (सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा) शुद्ध साधक हैं ऐसे कहे गये हैं।

जो साधु संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तीन दोषों से रहित ऐसा अनन्तज्ञान, उस अनन्तज्ञानादि स्वभाव वाले निज–परमात्म पदार्थ को आदि लेकर सर्व वस्तुओं के विचार में चतुर–चित्त होकर उससे प्रकट जो अतिशय सहित परम विवेकरूपी ज्योति उसके द्वारा भले प्रकार पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले हैं तथा पंचेन्द्रिय विषयों के अधीन न होकर निज परमात्मतत्त्व की भावना रूप परम समाधि से उत्पन्न जो परमानंदमय सुखरूपी अमृत उसका स्वाद भोगने के फल से पांचों इन्द्रियों के विषयों में रंचमात्र भी आसक्त नहीं है और अपने स्वरूप का ग्रहण करके जिन्होंने बाहरी क्षेत्रादि अनेक प्रकार और भीतरी मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार परिग्रह को त्याग दिया है, ऐसे महात्मा, शुद्धात्मा–शुद्धोपयोगी ही मोक्ष की सिद्धि कर सकते हैं ऐसा कहा गया है अर्थात् ऐसे परमयोगी ही अभेद नय से मोक्षमार्ग स्वरूप जानने योग्य है।

समीक्षा– यह गाथा आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म साधक मोक्षमार्गी के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि इस गाथा में मोक्ष के परम साधक को ही मोक्षमार्ग तथा मोक्ष बताया गया है। वस्तुतः द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से मुक्त एवं शुद्ध रत्नत्रय से युक्त जीव ही मोक्षमार्गी है एवं वही मोक्ष को प्राप्त करता है। इसलिए ऐसे साधक ही निश्चय से मोक्षमार्ग एवं मोक्ष स्वरूप हैं। द्रव्यसंग्रह में कहा भी है––

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइयो णिओ अप्पा।।39 पृ.128

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण जानो तथा निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यग्चारित्र स्वरूप जो निज आत्मा है उसको मोक्ष का कारण जानो।

रयणत्तयं ण वट्टइअप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि।
तम्हा तत्तियमइउ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा।।40

आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता। इस कारण उस रत्नत्रयमयी जो आत्मा है वही निश्चय से मोक्ष का कारण है। परमात्मप्रकाश में भी योगेन्द्र देव ने कहा है कि विषय कषाय से रहित निर्मल भाव ही मोक्ष का कारण है और मोक्ष स्वरूप भी है। यथा–

जेण णिरंजणि मणु धरिउ विसय–कसायहिँ जंतु।
मोक्खहँ कारण एत्तडउ अण्णु ण तंतु ण मंतु।।गा. 123 पृ. 114

जिस पुरुष ने विषय कषायों में जाते हुए मन को कर्मरूपी अंजन से रहित भगवान् में रक्खा और ये ही मोक्ष के कारण हैं दूसरा कोई भी तंत्र नहीं है और न मंत्र है। **तंत्र नाम शास्त्र व औषध का है, मंत्र नाम मंत्राक्षरों का है।** विषय कषायादि पर पदार्थों से मन को रोककर परमात्मा में मन को लगाना, यही मोक्ष का कारण है।

जो जिणु सो अप्पा मुणहु इहु सिद्धंतहँ सारू।
इउ जाणेविण जोइयहो छंडहु मायाचारू।।21 पृ. 362 (योगसारः)

जो जिन भगवान् हैं वही आत्मा है– यही सिद्धान्त का सार समझो। इसे समझकर हे योगीजनों ! मायाचार को छोड़ो।

जो परमप्पा सो जि हउँ जो हउँ सो परमप्पु।
इउ जाणेविणु जोइया अण्णु म करहु वियप्पु।।22 पृ. 364

जो परमात्मा हैं वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ वही परमात्मा है यह समझकर हे योगिन् ! अन्य कुछ भी विकल्प मत करो।

राय–रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ।
सो धम्मु वि जिण–उत्तियउ जो पंचम–गई णेइ।।48 पृ. 370

जो राग और द्वेष दोनों को छोड़कर निज आत्मा में वास करना है, उसे ही जिनेन्द्र देव ने धर्म कहा है वह धर्म पंचमगति (मोक्ष) को ले जाता है।

जइया मणु णिग्गंथु जिय तइया तुहुँ णिग्गंथु।
जइया तुहुँ णिग्गंथु जिय तो लब्भइ सिवपंथु।।73 पृ. 376

हे जीव ! जब तेरा मन निर्ग्रन्थ हो गया है तो तू भी निर्ग्रन्थ हो गया और जब तू निर्ग्रन्थ हो गया, तो उससे मोक्षमार्ग मिल जाता है।

जो जिण सो हउँ सो जि हउँ एहउ भाउ णिभंतु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तुंतु ण मंतु।।75

जो जिनदेव हैं वह मैं हूँ ,वही मैं हूँ–इसकी भ्रान्ति रहित होकर भावना कर। हे योगिन् ! मोक्ष का कारण कोई अन्य मन्त्र तन्त्र नहीं है।

अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि।
अप्पा संजमु सील तउ अप्पा पच्चक्खाणी।।81 पृ. 378

आत्मा को ही दर्शन और ज्ञान समझो, आत्मा ही चारित्र है और संयम, शील, तप और प्रत्याख्यान भी आत्मा को ही मानो।

रयणत्तय–संजुत्त जिउ उत्तिमु तित्थु पवित्तु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु।।83

हे योगिन ! रत्नत्रययुक्त जीव ही उत्तम पवित्र तीर्थ है, और वही मोक्ष का कारण है। अन्य कुछ मन्त्र, तन्त्र मोक्ष का कारण नहीं है।

णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदिकिंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति।।161
पृ. 372 पंचास्तिकाय

जो आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र से एकाग्र होकर अपने आत्मिक भाव के सिवाय क्रोधादि भावों को नहीं करता है और न आत्मा के आश्रय में रहने वाले अनन्तज्ञान आदि गुणसमूह को त्यागता है वही निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप है। अपने ही शुद्धात्मा की रुचि निश्चय सम्यग्दर्शन है उसी का ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है तथा उसी शुद्ध आत्मा का निश्चल अनुभव सो निश्चय सम्यग्चारित्र है। इन तीनों की एकता निश्चय मोक्षमार्ग है–इसी का साधक व्यवहार मोक्षमार्ग है जो किसी अपेक्षा अनुभव में आने वाले अज्ञान की वासना के विलय होने से भेद रत्नत्रय स्वरूप है। इस व्यवहार मोक्षमार्ग का साधन करता हुआ गुणस्थानों के चढ़ने के क्रम से जब यह आत्मा अपने ही शुद्ध आत्मिक द्रव्य की भावना से उत्पन्न नित्य आनन्द स्वरूप सुखामृत रस के आस्वाद से तृप्तिरूप परम कला का अनुभव करने के द्वारा अपने ही शुद्धात्मा के आश्रित निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्रमई हो एक रूप से परिणमन करता है तब निश्चय नय से भिन्न साध्य और भिन्न साधक भाव के अभाव से यह आत्मा ही मोक्षमार्ग रूप हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सुवर्ण एवं सुवर्ण पाषाण की तरह निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग में साध्य और साधक भाव भलेप्रकार सम्भव है। मूलाचार में रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा है और अनन्त सुखादि की उपलब्धि को मोक्षमार्ग का फल कहा है। यथा–

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वाणं।।202 पृ.166 मू.1

मार्ग और मार्गफल इस तरह दो प्रकार ही जिनशासन में कहे गये हैं निश्चित रूप से सम्यक्त्व है मार्ग और मार्ग का फल है निर्वाण। अकलंक देव ने स्वरूप संबोधन में मोक्ष की सातों विभक्तियां एवं षट्कारक स्वयं की आत्मा में ही घटाकर सिद्ध किया है कि आत्मा ही मोक्ष के लिए कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अधिकरण, सम्बोधादि है। यथा–

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्याविनश्वरम्।
स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत् स्वोत्थमानन्दमामृतं पदम्।।24 (स्व.स.)

अपनी आत्मा, अपने द्वारा, स्थित, अपने स्वरूप को, अपने लिए, अपने आत्मा से, अपने आत्मा का, अपने आत्मा में उत्पन्न हुआ अविनाशी आनन्द– अमृतमय पद अपने आत्मा में ध्यान करके प्राप्त करे। इस गाथा में आचार्य श्री ने कहा है कि वह जीव मोक्षमार्गी एवं मोक्ष स्वरूप जो शुद्धस्वरूप है। जो वस्तु–स्वरूप को यथार्थ जानता हुआ सम्पूर्ण अन्तरंग, बहिरंग परिग्रह को त्याग करके विषय सुख से अनासक्त होता है। इससे आचार्य ने यह सिद्ध किया है कि जो परिग्रह धारण करते हुए, विषयों का भोग करते हुए स्वयं को शुद्धोपयोगी, शुद्धात्मा का अनुभव करने वाला शुक्ल ध्यानी मानता है उसकी मान्यता मिथ्या है। अध्यात्म अमृत कलश में कहा भी है–

वे मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हुए। उनका तिरस्कार किया। किन्तु यहाँ इस उपदेश से उनकी चपलता मिटाई पर द्रव्य के आलम्बन को जड़ से उखाड़ फेंकने का उपदेश दिया तथा अपने मन को अपने स्वात्मा में ही लीन किया उससे ही सम्बद्ध किया। उनको ही पूर्णघट की तरह सम्पूर्ण ज्ञान की ठोस उपलब्धि होती है। अथवा सम्पूर्ण ज्ञानघन स्वरूप आत्मा की उपलब्धि होने से चपलता छूटी, परावलम्ब छूटा और स्वात्माश्रितता आई ऐसा जानना चाहिए। महात्मा बुद्ध ने भी कहा है कि निर्वाण वह प्राप्त करता है जो समस्त रागद्वेष कामना को त्याग करता है। यथा–

सिञ्च भिक्खु ! इमं नावं सित्ता ते लहुमेस्सति।
छेत्वा रागञ्च दोसञ्च ततो निब्बानमेहिसि।।10 पृ.116

भिक्षु ! इस नाव को उलीचो, उलीचने पर यह तुम्हारे लिये हल्की हो जायेगी। राग और द्वेष को छिन्नकर, फिर तुम निर्वाण को प्राप्त होओगे।

पञ्च छिन्दे पञ्च जहे पञ्च चुत्तरि भावये।
पञ्च संगातिगो भिक्खु ओघतिण्णोति वुच्चति।।11

(सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत परामर्श, कामराग और व्यापाद इन) पाँच (अवर भागीय संयोजनों) को काटे, (रूप राग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या इन) पाँच (ऊर्ध्वभागीय संयोजनों) को छोड़ दें। आगे (उनके प्रहाण के लिए श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा इन) पाँच (इन्द्रियों की) भावना करें, (राग, द्वेष, मोह, मान और मिथ्यादृष्टि इन) पाँच के संसर्ग को अतिक्रमण कर चुका भिक्षु (काम, भव, दृष्टि, अविद्या के) ओघों (बाढ़ों) से पार हुआ कहा जाता है। गीता में कहा भी है–

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।। पृ. 62

जिसने समत्वरूपी योग द्वारा कर्मों को अर्थात् कर्मफल का त्याग किया है और ज्ञान द्वारा संशय को छिन्न कर डाला है वैसे आत्मदर्शी को, हे धनंजय ! कर्म बन्धनरूप नहीं होते।

जह फलिहमणिविसुद्धो ण सयं परिणदि रायमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।।300 पृ. 270
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं।।301

जैसे स्फटिकमणि जो कि निर्मल होता है वह किसी बाहरी लगाव के बिना अपने आप ही लाल आदि रूप परिणमन नहीं करता है किन्तु जपा पुष्पादि बाह्य दूसरे–दूसरे द्रव्य के द्वारा वह लाल आदि बनता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी उपाधि से रहित अपने चिच्चमत्कार रूप स्वभाव से वह शुद्ध ही होता है जो कि जपा–पुष्प स्थानीय कर्मोदयरूप उपाधि के बिना रागादिरूप विभावों के रूप में परिणमन नहीं करता है। हाँ, जब कर्मोदय से होने वाले रागादिरूप–दोषभावों से अपनी सहज स्वच्छता से च्युत होता है तब वह रागी बनता है। इससे यह बात मान लेनी पड़ती है कि जो रागादिक हैं वे सब कर्मोदय जनित हैं किन्तु ज्ञानी जीव के स्वयं के भाव नहीं है।

मोक्षोपायो भवति यमिनां शुद्धरत्नत्रयात्मा।
ह्यात्मा ज्ञानं न पुनरपरं दृष्टिरन्याऽपि नैव।।
शीलं तावन्न भवति परं मोक्षुभिः(भोकृभिः) प्रोक्तमेतद्।
बुद्धवा जन्तुर्नपुनरुदरं याति मातुः स भव्यः।।11 (नियमसार)

शुद्धरत्नत्रय स्वरूप से परिणत अपनी आत्मा मुनियों के लिए मोक्ष प्राप्ति का उपाय है क्योंकि आत्मा ही ज्ञान है, किन्तु उससे भिन्न अन्य कुछ ज्ञान नहीं है, आत्मा ही दर्शन है भिन्न दर्शन भी कुछ नहीं है एवं शील भी अन्य कुछ नहीं है अर्थात् आत्मा ही शील है। ऐसा मुक्ति इच्छुक–मोक्ष को प्राप्त होने वाले श्रीअरिहंत देव ने कहा है ऐसा जानकर वह भव्य जीव पुनः माता के गर्भ में नहीं आता है। पंचाध्यायी में शुद्धोपयोग को ही चारित्र कहा गया है और उसे ही उत्कृष्ट व्रत भी कहा है क्योंकि इससे ही जीव को मोक्ष मिलता है। यथा–

ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते।
चारित्रापरनामैतद् व्रतंनिश्चयतः परम्।। (758) पृ. 466

इसलिए मोहनीय कर्म के उदय से रहित जो आत्मा का शुद्धोपयोग है उसी का दूसरा नाम चारित्र है और वही निश्चय से उत्कृष्ट व्रत है।

चारित्रं निर्जराहेतुर्न्यायादप्यस्त्यवाधितम्।
सर्वस्वार्थक्रियामर्हन्सार्थनामस्ति दीपवत्।। (758)

चारित्र निर्जरा का कारण है यह बात न्याय से अबाधित सिद्ध है वह चारित्र ही स्वार्थ क्रिया करने में समर्थ है। जिस प्रकार दीपक प्रकाशन क्रिया से सार्थनामा (यथार्थ नाम वाला) है उसी प्रकार चारित्र भी कर्म नाश क्रिया से सार्थनामा है।

कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्।
कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्रसंज्ञकः।। (764)

कर्म के ग्रहण करने की क्रिया का रुक जाना ही स्वरूपाचरण चारित्र है वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है, वही चारित्र है।

ननुसद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्र मात्रया।।

शंकाकार का कहना है कि सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्षमार्ग कहलाता है। फिर केवल चारित्र के कहने से क्या प्रयोजन है ?

सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतः मिथः।
त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखण्डितम्।।

आचार्य कहते हैं कि सामान्य दृष्टि से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही चारित्र में गर्भित है परन्तु तीनों का अविनाभाव होने से तीनों ही अखण्डित हैं। गीता में भी यज्ञ, अर्पण एवं समिधा ब्रह्म को ही कहा है और ऐसे जो ब्रह्म यज्ञ करता है वह ब्रह्म को प्राप्त करता है। यथा–

ब्रह्मार्पणं ब्रह्मा हविब्रह्माग्नौ ब्रह्माणा हुतम्।
ब्रह्मोव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। (24) पृ. 58

यज्ञ में अर्पण ब्रह्म है, हवन की वस्तु–हविब्रह्मा है, ब्रह्मा रूपी अग्नि में हवन करने वाला भी ब्रह्मा है, इस प्रकार कर्म के साथ जिसने ब्रह्मा का मेल साधा है वह ब्रह्मा को ही पाता है।

शुद्धोपयोग से स्वात्मोपलब्धि
(शुद्धोपयोग ही सर्वार्थसाधक है–)

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य निव्वाणं सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स।। (274)

He, who is pure, is said to be a Shramana; to the pure one belong faith and knowledge; the pure one attains liberation; he alone is a Siddha; my salutation to him.

आगे आचार्य फिर दिखलाते हैं कि शुद्धोपयोग–स्वरूप जो मोक्षमार्ग है वही सर्व मनोरथ को सिद्ध करने वाला है–

(सुद्धस्स य सामण्णं) शुद्धोपयोगी के ही साधुपना है, (सुद्धस्स दंसणं णाणं भणियं) शुद्धोपयोगी के ही दर्शन और ज्ञान कहे गये हैं (सुद्धस्स य णिव्वाणं) शुद्धोपयोगी के ही निर्वाण होता है (सोच्चिय सिद्धो) शुद्धोपयोगी ही सिद्ध भगवान् हो जाता है (तस्स णमो) इससे उस शुद्धोपयोगी को नमस्कार हो। जो शुद्धोपयोग धारक साधु है उसी के ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र की एकतारूप तथा शत्रु मित्र आदि में समभाव की परिणतिरूप साक्षात् मोक्ष का मार्ग श्रमणपना कहा गया है। शुद्धोपयोगी के ही तीन लोक के भीतर रहने वाले व तीन कालवर्ती सर्व पदार्थों के भीतर प्राप्त जो अनन्त स्वभाव उनको एक समय में बिना क्रम के सामान्य तथा विशेष रूप से जानने को समर्थ अनन्तदर्शन व अनन्तज्ञान होते हैं तथा शुद्धोपयोगी के ही बाधा रहित अनन्त सुख आदि गुणों के आधारभूत पराधीनता से रहित स्वाधीन निर्वाण का लाभ होता है। जो शुद्धोपयोगी है वही लौकिक माया, अंजन रस, दिग्विजय मन्त्र, यन्त्र आदि सिद्धियों से विलक्षण, अपने शुद्ध आत्मा की प्राप्तिरूप टांकी से उकेरे के समान मात्र ज्ञायक एक स्वभावरूप तथा ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों से रहित होने के कारण से सम्यक्त्व आदि आठ गुणों में गर्भित अनन्त गुण सहित सिद्ध भगवान् हो जाते हैं।

इसीलिए उस ही शुद्धोपयोगी को निर्दोष निज परमात्मा में ही आराध्य–आराधक सम्बन्ध रूप भाव नमस्कार हो। भाव यह कहा गया है इस मोक्ष के कारणभूत शुद्धोपयोग के ही द्वारा सर्व इष्ट मनोरथ प्राप्त होते हैं ऐसा मानकर शेष सर्व मनोरथ को त्यागकर इसी शुद्धोपयोग की ही भावना करने योग्य है।

समीक्षा– समस्त वैभाविक भावों से रहित, समस्त बंधनो से रहित, समस्त मलिनता से रहित, समस्त द्वन्द से रहित जीव का जो शुद्ध स्वरूप है वही शुद्धोपयोग है और इस शुद्धोपयोग में जीव के समस्त अनन्त गुण पूर्ण विकसित अवस्था में होते हैं। इसलिए शुद्धोपयोग ही सर्वार्थ साधक है। इसलिए आचार्य श्री ने ऐसे शुद्धोपयोग को भाव नमस्कार किया है। इसका कारण यह है कि जो जिसकी उपासना करता है उसकी ही उपलब्धि उसको होती है। इसलिए शुद्धोपयोग की उपलब्धि के लिए शुद्धोपयोग को नमस्कार किया गया है। जो शुद्धोपयोग में स्थित होता है वह निर्वाण को प्राप्त करता है ऐसा कथन कुन्दकुन्ददेव ने समयसार में किया है–

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणि णाणी।
तह्मिट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।158

निश्चय कर परमार्थरूप जीवात्मा का स्वरूप ऐसा है कि जो शुद्ध है, केवली है, मुनि है अर्थात् संसार की बातों से पृथक् रहने वाला है और ज्ञानी है। इस प्रकार ये जिसके नाम हैं उस स्वभाव में स्थित होकर, तन्मय होकर ही मुनि लोग निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।।295 पृ. 266

आचारांग आदि शास्त्र का पढ़ना ज्ञान है, जीवादि नव पदार्थों का मानना दर्शन है और छह काय के जीवों की रक्षा करना सो चारित्र है इस प्रकार व्यवहारनय कहता है। किन्तु वास्तव में मेरा आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है आत्मा ही संवर है और आत्मा ही योग है ऐसा निश्चयनय कहता है।

सामान्य मानव को नहीं होता है अधिक ज्ञान (अज्ञेयवाद या केनवाद का चिन्तन)

केन उपनिषद् के चिन्तक विचारक ऋषि का वक्तव्य है–जो कहता है कि वह जानता है, वह कुछ ही जानता है, सब–कुछ नहीं जानता, जो कहता है वह नहीं जानता, असल में वह बहुत कुछ नहीं जानता है, क्योंकि इस विशाल विश्व में यही जानने की बात है कि बहुत थोड़ा ही जाना जा सकता है। इस केन उपनिषत् के द्वितीय खण्ड के पहले मन्त्र में गुरु शिष्य से कहता है–यदि तू मानता है कि ब्रह्म को अच्छी तरह जानता है तो निश्चय ही तू ब्रह्म के स्वरूप को बहुत थोड़ा जानता है। उसका जो स्वरूप तुझमें है और उसका जो स्वरूप देवों में होना ज्ञात है, उसे मैं तेरे लिए खोज करने योग्य ही मानता हूँ।

यदि मन्यसे सुवेदिति दभ्रम् एवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यम् एव ते मन्ये विदितम्।। 2.1।।

गुरु आगे कहते हैं कि मैं नहीं मानता कि वह ब्रह्म अच्छी तरह से जानने योग्य है, न यह नानता हूँ कि बिल्कुल जानने योग्य नहीं है, क्योंकि कुछ जानता भी हूँ। जो हमसे कहता है वह उसे जान गया है, वह बस उतना–मात्र जानता है, इसलिए उसके विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि वह नहीं जानता और जानता भी है 'न वेद इति, वेद च'।

नाहं मन्ये सुवेदिति, नो न वेदिति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद् वेद, नो न वेद इति वेद च।। 2.2

इस प्रकार जो स्वीकार कर लेता है कि 'ब्रह्म को पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता, वह मानो जान गया है, और जो यह घोषणा करता है कि ब्रह्म को जान गया हूँ, वह उसे नहीं जानता 'मतं यस्य न वेद सः'। जानने वालों के लिए वह अनजाना है 'अविज्ञातं विजानताम्'। जो कहते हैं कि वह इतना विराट् है कि उसे पूर्ण रूप से जाना ही नहीं जा सकता। यह तीसरा मन्त्र इस प्रकार है–

यस्य अमतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातम् अविजानताम्।। 3.3

चौथे मन्त्र में कहा गया है–इन्द्रियाँ जब बाहर की दौड़ बंद कर भीतर की खोज–प्रतिबोध करती है, उसी से अमरत्व प्राप्त होता है। आत्मना–पुरुषार्थ–कर्म से बल और सच्चे आत्मज्ञान–विद्या से अमरत्व प्राप्त होता है।

प्रतिबोधविदितं मतम् अमृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्देऽमृतम्।। 2.4

इस प्रकार केन उपनिषत् के तत्वद्रष्टा ऋषि की दृष्टि में ब्रह्म के विषय में जो कुछ जाना जा सकता है, वह तूने इस जन्म में जान लिया तो ठीक–**'इह चेत् अवेदीत् अथ सत्यम् अस्ति'**। नहीं जाना तो महानाश का सामना करना होगा **'न चेत् अवेदीत् महती विनष्टिः'**। धीर लोग संसार के एक–एक भूत, एक–एक पदार्थ, जड़–चेतन पर गहन चिन्तन कर इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि मूल पदार्थ वही है–**'भूतेषु–भूतेषु विचिन्त्य धीराः'**। इस जीवन में जिन्होंने जान लिया कि ब्रह्म ही सत्य है, यह जगत् स्वयं में कुछ नहीं, उसी की और लक्ष्य करता है–उसी की महिमा का गान कर रहा है, तब ऐसे मनुष्य इस लोक में मरकर भी नहीं मरते, वे अमर हो जाते हैं–**प्रेत्य अस्मात् लोकात् अमृताः भवन्ति।'**

पाँचवाँ मन्त्र इस प्रकार है–

इह चेत् अवेदीत् अथ सत्यमस्ति, न चेत् इह अवेदीत् महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्य अस्मात् लोकात् अमृता भवन्ति।। 2.5

जगत् के एक–एक पदार्थ में ब्रह्म आकाशवत् ओत–प्रोत हो रहा है, इसलिए सच्चा तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हुए ही खोज करनी चाहिए। इसी प्रकार उसकी खोज करते हुए धीर पुरुष अमरत्व प्राप्त करते हैं। पश्चिमी विचारक हर्बर्ट स्पेन्सर की मान्यता है कि विश्व–सत्ता का कुछ हिस्सा 'ज्ञात' कोटि में है, बहुत बड़ा हिस्सा 'अज्ञात' 'अन्नोन' कोटि का है, अज्ञात में भी कुछ हिस्सा अज्ञेय 'अन्नोएबल' है–हम उसे जान ही नहीं सकते। यूरोप के तत्त्वचिन्तक कांट का कथन है– जो कुछ प्रत्यक्ष

है, जो कुछ दीखता है, हमारी बुद्धि उसी का अध्ययन कर सकती है, जो बुद्धि से परे है, प्रत्यक्ष से परे है, उसका अध्ययन नहीं कर सकती। इस दृष्टि से यद्यपि मनुष्य ब्रह्म या परमात्मा तक नहीं पहुँचता, उसे 'अज्ञेय' की ही कोटि में रखता है, तो भी उसका हृदय अज्ञेय शक्ति के प्रति विनम्रता की भावना रखता है। संभवतः रूसी तत्त्वचिन्तक टॉल्सटॉय ने भी अपने शब्दों में यही निष्कर्ष प्रस्तुत किया था– "भगवान् की सत्ता हम में से प्रत्येक के अन्दर विराजमान है। मनुष्य का सर्वोच्च पुरूषार्थ इसी में है कि वह उस दिव्य ज्योति के प्रकाश से अपने हृदय को प्रदीप्त रखें।"

" हे मैत्रेयी ! इस आत्मा को ही देखना चाहिए। उसी को सुनना चाहिए। उसी पर चिन्तन करना चाहिए। उसे जान लेने से सब कुछ जाना जा सकता है।" **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेण मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।। 2.4.7**

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति।।10

परमात्मदेव को भली प्रकार जानने से अविद्या, क्लेश आदि सब बन्धन समाप्त हो जाते हैं, उनके छूट जाने से जन्म–मृत्यु–चक्र से छुट्टी मिल जाती है। इसे जान लेने के बाद वह जीव, प्रकृति और ब्रह्म से भिन्न एक देह शरीर से पृथक् तीसरी पूर्णतया स्वच्छ अनुभूति करने लगता है। सम्बन्धित मन्त्र यह है–

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्म मृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्य केवल आप्तकामः।।11

उस परमात्म देव को जानने से वह परमात्म देव कहीं और नहीं, अपने आभ्यन्तर में ही अवस्थित है, यह जानने के बाद कुछ और जानने योग्य नहीं रहता।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतस्स्वरणिषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति।।15

जैसे दूध में घृत व्याप्त रहता है, तपश्चर्या सत्य से परमात्म तत्त्व को देख लेते हैं, बिना तप के आत्म–विद्या का ग्रहण नहीं हो सकता, जैसे तिलों में तेल, दूध में घी, स्रोतों में जल, अरणि में अग्नि उपस्थित है, जैसे उन्हें विशिष्ट साधनों के माध्यम से प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार अन्तर में अवस्थित परमात्मा की सत्य, तप, ध्यान द्वारा साक्षात् अनुभूति हो सकती है।

सांगोपांगानपि यदि, यश्च वेदानधीयते।
वेदवेद्यं न जानाति, वेदभारवहो हि सः।।
निष्फलता (ज्ञान की) महाभा./शान्ति/318/50

जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष इन छह अंगों तथा छह उपांगो अर्थात् छह आस्तिक दर्शनों सहित वेदों को पढ़ता है, और वेदों से जानने योग्य उस परमात्मा को नहीं जानता, तो समझना चाहिए कि वह वेदों के भार को ढ़ोने वाला ही व्यक्ति है।

यह आत्मा का ज्ञान उपदेश सुनने मात्र से प्राप्त नहीं होता, न बुद्धि से और न बहुत ज्ञान प्राप्त करने से, यह आत्मा का ज्ञान केवल उसी को मिलता है जिसका

वह वरण करता है। अर्थात् जिसे वह प्रभु स्वयं स्वीकार करता है। ऐसे व्यक्ति को उसी के आत्मा के दर्शन प्राप्त होते हैं। मन्त्र इस प्रकार है–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमैवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंस्वाम्।। 1.2.23।।

आत्मा का साक्षात्कार तो हो जाता है, परन्तु जो व्यक्ति **अविरतः दुश्चरितात्** जो व्यक्ति दुश्चरित्र से हटा नहीं है, जो अशान्त है, जिसका मन और इन्द्रियाँ वश में नहीं है–ऐसे व्यक्ति को आत्मा–परमात्मा के दर्शन नहीं होते।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।। 24।।

- सदाचार और निर्मल जीवन सच्ची शिक्षा के आधार हैं। **(महात्मा गांधी)**
- देह और आत्मा में अधिक से अधिक जितने सौंदर्य और जितनी संपूर्णता का विकास हो सकता है, उसे सम्पन्न करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। **(प्लेटो)**
- शिक्षा का महान् उद्देश्य ज्ञान नहीं, कर्म है। **(हर्बर्ट स्पेन्सर)**
- शिक्षा राष्ट्र की सस्ती सुरक्षा है। **(बर्क)**
- जिस शिक्षा में समाज और देश की कल्याण–चिंता के तत्त्व नहीं हैं, वह कैसी भी सच्ची शिक्षा नहीं कही जा सकती। **(रस्किन)**
- शिक्षा प्राप्त करने के तीन आधारस्तंभ हैं– अधिक निरीक्षण करना, अधिक अनुभव करना एवं अधिक अध्ययन करना। **(केथराल)**
- युवकों को यह शिक्षा मिलना बहुत जरूरी है कि वे अपने सामने सर्वोत्तम आदर्श रखें। **(मदनमोहन मालवीय)**
- हरेक प्रकार की शिक्षा भविष्य के प्रतिबिम्बों में से जन्म लेती है तथा वह स्वयं भविष्य के प्रतिबिम्बों को बनाती है। शिक्षा का मुख्य कार्य तो यह है कि वह व्यक्तियों के भविष्य के प्रतिबिम्बों को स्पष्ट कर सके, सुधार सके तथा उन्हें बड़ा बना सके। **(एल्विन टोफलर)**
- हमारी आज की शिक्षा में चाहे जितने सद्गुण हों, किन्तु उसमें जो बड़ा दुर्गुण है, वह यही है कि उसमें बुद्धि को ऊँचा और परिश्रम को नीचा स्थान दिये जाने की भावना है। **(महात्मा गांधी)**

अनुच्छेद–11

प्रायः संसार यथार्थ ज्ञान से रहित क्यों?
यथार्थ ज्ञान के अभाव के कारण तथा निवारण

सम्पूर्ण चराचर ब्रह्माण्ड में मुख्यता दो तत्व हैं (1) ज्ञान (2) ज्ञेय। ज्ञान के माध्यम से ज्ञाता स्वज्ञेय के साथ - साथ यथा योग्य परज्ञेय को भी जानता है। ज्ञान ही स्व-पर, हित-अहित, ग्रहणीय-त्यजनीय, ज्ञेय-हेय-उपादेय, सुख-दुःख, करणीय-अकरणीय, सत्य-असत्य, अच्छा-बुरा आदि को जानता है, मानता है, स्वीकारता है, अनुभव करता है। ज्ञान के अभाव से यह सब संभव नहीं है। यहाँ तक कि ज्ञान के अभाव से ज्ञेय/वस्तु/पदार्थ/सत्य/ब्रह्माण्ड का भी परिज्ञान नहीं होता।

इसीलिए ही तो "णाणं पयासणं" "नही ज्ञानेन सदृश्यं पवित्रमिहविद्यते" "ज्ञानामृतं" "Knowledge is Supreme light" "Knowledge is Supreme Power" कहा है। इससे विपरीत "विद्याविहीनं पशु" "सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नास्ति अन्ध एव सः" "अणाणि किं जाणइ पुण्णं पापगं सेयं असेयं" "पढमं णाणं तदो दया" कहा है। अतः मोक्षमार्ग में सम्यग्ज्ञान को सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र के मध्य में रखा गया है। क्योंकि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र को प्रकाशित करता है, शुद्ध करता है, सम्बल देता है। वस्तुतः साक्षरता का अर्थ है (स+अक्षर, अ+क्षर)(शाश्वतिक सत्य) सत्य से युक्त, अमृतस्वरूप होना, मोक्ष प्राप्त करना। इसीलिए तो "साविद्या या विमुक्तये" "ज्ञानेन अमृतमश्नुते" कहा है। इस विद्या से युक्त अन्य ज्ञान भी समीचीन होता है, अन्यथा ज्ञान मिथ्या/कुज्ञान/कुशिक्षा/अज्ञान हो जाता है। प्रत्येक शिक्षादि के अन्तर्निहित उद्देश्य निम्न प्रकार से होना चाहिए।

कला बहत्तर नरन की यामें दो सरदार।
एक जीव की जीविका दूजी जीव उद्धार।।

जीविका निर्वाह रूपी अपरा विद्या (लौकिक शिक्षा) तथा जीव उद्धार रूपी परा विद्या (अध्यात्म शिक्षा) से युक्त प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिए। परंतु शास्त्रों से ज्ञात होता है तथा प्रायोगिक अनुभव में आता है कि जीविका, प्रसिद्धि, डिग्री आदि के लिए लौकिक शिक्षा का अर्जन जैसे करते हैं वैसे आध्यात्मिक विद्या का अर्जन नहीं करते हैं। जो आध्यात्मिक विद्या (धर्म ज्ञान) का भी अध्ययन करते हैं वे भी प्रायः जीविका, प्रसिद्धि, डिग्री आदि के साथ-साथ पंथवाद, मतवाद, परंपरा, संकीर्ण रुढिवादिता, रीति-रिवाज को संरक्षण, संवर्धन, प्रचार-प्रसार करने में उस विद्या का उपयोग या कहो तो यथार्थ से दुरुपयोग करते हैं। ऐसे महानतम

अध्यात्मिक ज्ञान को साधारणत: मनुष्य से लेकर धार्मिक कहलाने वाले व्यक्ति भी उपलब्ध क्यों नहीं कर पाते हैं उसका दिग्दर्शन निम्न प्रकार है -

सच्चे ज्ञानी जनों को दूषण लगाने से, उनसे दाह करने से, उनके ज्ञानाराधना में विघ्न डालने से, उनकी आसाधना करने से तथा चक्षु आदि इंद्रियों का घात करने से प्राणी मतिज्ञानावरण और श्रुत ज्ञानावरण कर्मों का बन्ध करने से बुद्धिहीन होते हैं। लाखों जन्मों में से कुछ ही जन्मों में शुभ परिणामवश मतिज्ञानवरण और श्रुतज्ञानवरण का क्षयोपशम होने से विवेकशील बुद्धि प्राप्त होती है। बुद्धि प्राप्त होने पर भी हिताहित के विचार में समर्थ धर्म का सुनना दुर्लभ है। क्योंकि रागद्वेष से रहित सच्चे ज्ञान के प्रकाशन से दुर्भेद्य मोहान्धाकार का उन्मूलन करने वाले और समस्त जीवों पर दया करने वाले मुनिगण दुर्लभ हैं। तथा तीव्र मिथ्यादर्शन के कारण गुणीजनों से द्वेष करने वाले या थोडा सा मिथ्याज्ञान प्राप्त करके अपने को बडा विद्वान् मानने वाले या अपने जाने हुए तत्त्व के परवश मनुष्यों के कारण या यतिगण के आलस्य से अथवा अपना और दूसरों का उद्धार करने में दक्ष न होने से यतिजन भी नहीं आते हैं। इससे भी धर्मश्रवण की दुर्लभता है। कदाचित् पाप का उपशम होने से यतिजन के पधारने पर भी विनयपूर्वक प्रश्न करने पर और प्रशस्त वचन बोलने वाले गुरु के सन्मुख होने पर धर्म सुनने को मिलता है। इसलिए धर्मश्रवण की दुर्लभता है। अथवा मुनिगण के वास स्थान पर जाकर भी सोता है स्वयं जो कुछ असार वचन बोलता है या मूर्खों के वचन सुनता है, विनय पूर्वक बर्ताव नहीं करता। इससे भी धर्म श्रवण दुर्लभ है।

धर्म सुनने पर भी श्रुत ज्ञानवरण का उदय होने से उसको समझना अति दुर्लभ है। तथा समझने पर भी उसमें मन लगना दुष्कर है क्योंकि पहिले कभी नहीं सुना था तथा जीवादि तत्त्व भी सूक्ष्म है। श्रुतज्ञान का क्षयोपशम, मनका लगना, वक्ता का वचन सौष्ठव ये दुर्लभ होने से धर्मज्ञान दुर्लभ है, धर्म का ज्ञान होने पर भी जिन भगवान् के द्वारा कहा स्वर्ग और मोक्ष रुप फल को देने वाला, जीव के सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, तप, दान, पूजा, भावरुप धर्म, ऐसा श्रद्धान दुर्लभ है क्योंकि जीव के दर्शन मोह का उदय रहता है। उपदेशलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि भी सदा नहीं होती, कदाचित् ही होती है।

लद्धेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणसासणम्मि ण हु सुलहा।
कुपधाकुलाय लोगों जं बलिया रागदोसा य॥ 1864 भ. आरा.

मनुष्य भव आदि के प्राप्त होने पर भी यबोधिय अर्थात् जिन दीक्षा की ओर अभिमुख बुद्धि का होना सुलभ नहीं है क्योंकि जीवों के संयम को घातने वाला कर्म प्रबल होता है। तथा यह लोक मिथ्यामतों से भरा है। अत: बहुत लोग जिस धर्म का आचरण करते हैं उसे ही प्रमाण मानकर जो कुछ मन में आता है उसे करते हैं। राग

द्वेष के बलवान होने से ज्ञान और श्रद्धान से युक्त भी मनुष्य सन्मार्ग पर नहीं चलता।

एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों के मन नहीं होने के कारण उन में मन जन्य विशेष ज्ञान होना संभव नहीं। पञ्चेन्द्रिय में पशु-पक्षी के उत्कृष्ट मन नहीं होने के कारण भी उत्कृष्ट ज्ञान सम्भव नहीं है। नरक में अतिदु:ख, संक्लेश, वैरत्त्व, युद्ध, मार-काट के कारण भी उत्कृष्ट यथार्थ ज्ञान का अभाव है। भोगभूमि तथा स्वर्ग में भोग-विलासिता के कारण भी परम उत्कृष्ट यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। विश्व में शेष बचे मनुष्य पर्याय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता होती है। तथापि मनुष्य में भी जो लब्धपर्याप्तक मनुष्य है उसमें तो यह योग्यता होती ही नहीं है। पर्याप्त मनुष्यों में भी सम्पूर्ण अंतरङ्ग-बहिरङ्ग अनुकूल कारणों के अभाव से भी बोधिलाभ संभव नहीं है।

देसकुलरूवमारोग्गमाउगं बुद्धिसवणगहणाणि।
लद्धे वि माणुसत्ते ण हुंति सुलभाणि जीवस्स॥ 1863

जीव के मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर भी देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण सुलभ नहीं हैं।

रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि वीतरागम्मि ।
धम्माम्मि णिरासादम्मि रदी अदी दुल्लहा होइ॥ 1856

जो राग द्वेष पूर्वक संसार के भोगों में फँसे हैं, स्वाद रहित वीतराग धर्म में उनकी रुचि होना अति दुर्लभ है।

अनादि कालिन काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या-द्वेष आदि कुसंस्कार के कारण मनुष्य की रुचि इन कामादि में अधिक होती है जिस की जिसमें रुचि होती है उसके प्रति आकर्षण तथा प्राप्त करने की इच्छा अधिक होती है इसलिए उसको प्राप्त करने के लिए वह प्रयत्न करता है। कामादि की पूर्ति भौतिक वस्तु धन-सम्पत्ति, मकान-दुकान, भोगोपभोग की सामग्री, स्त्री, पुरुष, लौकिक शिक्षा, प्रसिद्धि आदि होने से इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसके साथ-साथ उपर्युक्त वस्तुयें देखने में, सुनने में तथा दिखाने में, सुनाने में आने के कारण इन्द्रिय गम्य है। इसे संसार के अधिकांश प्राणी चाहते हैं तथा उसका भोगोपभोग करते हैं। **'गतानुगतिक लोक: न लोक: परमार्थिक:'** अर्थात् लोक/प्राणी/मनुष्य गतानुगतिक /अन्धानुकरण करने वाला होने से उपर्युक्त कामादि भाव तथा उसके अर्जन एवं भोगोपभोग की शिक्षा, सामग्रियों को स्वीकार करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने से सामाजिक व्यवस्थाओं को भी स्वीकार करता है इससे विपरीत, अध्यात्म अमूर्तिक होने से देखने में, सुनने में तथा दिखाने में, सुनाने में नहीं आता है। इसका मनन, चिन्तन, श्रवण, अनुभव आदि भी अनादि काल से सुलभ नहीं है। सांसारिक ज्ञान, सुख

सामग्री आदि जिस प्रकार सुलभ है उसी प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान, सुखादि सुलभ नहीं है।

वर्तमान आधुनिक, वैज्ञानिक, भौतिक, बाजारवादी, वैश्वीकरण के युग में आवश्यकता भी तदनुकूल है। इसलिए उसकी आपूर्ति के लिए भी तदनुकूल शिक्षा की आवश्यकता है। इसके बिना मनुष्य स्वयं को पिछडा हुआ मानता है तथा दूसरे भी इसी प्रकार मानते हैं। इसके कारण मनुष्य हीन भावना से ग्रसित हो जाता है। हीन भावना से उभरने के लिए भी युगानुकूल शिक्षादि ग्रहण करता है। इतना ही नहीं स्वयं को धार्मिक प्रदर्शित करने वाले गृहस्थ, पण्डित, साधु-संत तक जब आधुनिकता की अंधी दौड, सत्ता, संपत्ति, प्रसिद्धि, आडम्बर, डिग्री आदि को महत्त्व देते हैं तो अन्य सामान्य व्यक्ति को तो इसे सर्वेसर्वा, सर्वोपरी मान बैठना स्वभाविक ही है। इसलिए स्वयं को धार्मिक कहलाने वाले भी स्वयं तथा स्वयं के परिवार से देकर दूसरों को भी उपर्युक्त पढाई, विवाह, जीविका-निर्वाह के लिए चिन्ता, योजनायें करते हैं। दो या ढाई वर्ष के बच्चों को स्कूल, ट्यूशन भेजते हैं। बच्चों को दूसरे स्थान में यहाँ तक की विदेश में भी पढाने के लिए भेजते हैं, जाते हैं, धन के अभाव से ब्याज लेकर भी पढाते हैं, बडी बच्चियों को भी पढने के लिए दूर भेजते हैं। परंतु आध्यात्मिक ज्ञान कोई साधु-संत पास में नि:शुल्क रूप से दान करते हैं तो भी उसे ग्रहण नहीं करते हैं।

अनेक देश-विदेशों के विद्वान्, मनीषी, वैज्ञानिक, शिक्षाविदों के साथ-साथ मेरा (आ. कनकनंदी) अनुभव है कि भारतीय संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, गणित, आयुर्वेद, योग-ध्यान, शाकाहार, भोजन, भाषा तथा जैन दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त, कर्म सिद्धान्त, कार्य कारण सिद्धान्त, तेइस वर्गणा, स्व-पर चतुष्टय, स्याद्वाद, अहिंसा, समता, अपरिग्रह, उत्तम क्षमादि दस धर्म, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि अत्यन्त श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, वैश्विक, सत्य-तथ्यात्मक, सर्व जीव हिताय, सर्व जीव सुखाय है। परंतु अत्यन्त खेद-दु:खद विषय यह है कि जीवन अनुपयोगी, पिष्ट पोषण, अनावश्यक या भ्रान्तिपूर्ण अथवा महान् भारतीय संस्कृति को तुच्छ सिद्ध करने वाले अनेक विषय निम्न कक्षाओं से लेकर उच्चतम कक्षा तक पढते हैं, पढाते हैं परंतु उपर्युक्त भारतीय सत्य-तथ्यात्मक, सर्व जीव हितकारी विषयों को न पढते हैं, न पढाते हैं। इतना ही नहीं धार्मिक संस्था, क्षेत्र, मन्दिर, समिति, सभा आदि के अध्यक्ष से लेकर सदस्य तक भी उपर्युक्त ज्ञान से प्राय: रहित होते हैं तथा अपने परिवार के सदस्यों को भी उस ज्ञान से दूर रखते हैं। क्योंकि प्राय: वे धर्म के परिवर्तन में धन के बल पर अध्यक्ष आदि बनते हैं अत: वे चाहते हैं कि हमारे परिवार के सदस्य भी हमारे जैसे शिक्षा, व्यापारादि से धन कमाकर आगे भी अध्यक्षादि बनते रहे तथा धन-

मान-सम्मानादि प्राप्त करते रहें। वे भले राज-नेता के जैसे धर्म तथा धर्म ज्ञान-शिक्षादि के लिए भाषणबाजी करते रहेंगे परंतु प्रायोगिक रूप से विपरीत आचरण करते हैं।

विदेश के मनीषी, शोधार्थी, वैज्ञानिक आदि जब भारत के ग्रंथों से, संस्कृति से, परम्परा से, रीति-रिवाजों से कुछ शोध-बोध, अविष्कार करते हैं तब भारत के लोग मानते हैं, अध्यन-अध्यापन करते हैं अन्यथा भारतीय लोग उसे हेय दृष्टि से देखते हैं। इन सब कारणों से भारत में नवीन शोध-बोध, अविष्कार, विकास कम हो पाता है। जब भारत के लोग पाश्चात्य आदि देश में जाते हैं तब वहाँ के शोधपूर्ण-सत्याग्राही-पुरुषार्थ के कारण विकास करते हैं। भारतीयों को भी उपर्युक्त अच्छे गुणों को स्वीकार करके आगे बढकर अपनी आध्यात्मिक संस्कृति को अपना कर सर्वोदय करना चाहिए। ऐसा कार्य करने वाले महान् है। यथा -

ते धण्णा जे जिणवरदिट्ठे धम्मम्मि होंति संबुद्धा।
जे य पवण्णा धम्मं भावेण उवट्ठिदमदीया ॥ 187 भ. आ.

जो जिन भगवान् के द्वारा उपदिष्ट धर्म में प्रबुद्ध होते हैं वे धन्य हैं। तथा जो दीक्षाभिमुख बुद्धि को प्राप्त करके भावपूर्वक धर्म को अपनाते हैं वे तो महाधन्य हैं।

सुखकारी एवं दु:खहारी ज्ञान प्राप्ति के उपाय :-

मतिज्ञान के माध्यम से मतिज्ञान के अनन्तर जो अनुभवात्मक हिताहित विवेकात्मक ज्ञान होता है वह श्रुत ज्ञान है। इस ज्ञान से जीव विश्व के समस्त चेतन-अचेतनात्मक समस्त द्रव्यों को उसकी कुछ पर्यायों से सहित जानता है जिससे उसे स्व- आत्म तत्व तथा पर तत्व का भी परिज्ञान होता है। इससे उसे ज्ञेय (जानने योग्य) हेय (त्यजनीय) उपादेय (ग्रहनीय, श्रेष्ठ) का भी ज्ञान होता है जिससे वह ज्ञेय को जानकर हेय को त्याग कर ग्रहणीय को स्वीकार करता है। यह ही सुखी होने का सर्वोत्तम उपाय है। एतदर्थ कुछ उपाय करणीय है, यथा-

1) सत्य, विषय, शास्त्र, प्रवचनादि को जानने की सुनने की अत्यन्त रूचि हो। रूचि पूर्वक एकाग्रता से सुनना

2) रूचि से ग्रहणीय विषयों में शंका होने पर जिज्ञासा पूर्ण सनम्र प्रश्न करना।

3) ज्ञात विषयों को बार-बार मनन-चिन्तन-स्मरण करना।

4) ज्ञात विषयों को विभिन्न दृष्टिकोण से जानना तथा समन्व करना और तुलनात्मक अध्ययन करना ।

5) अध्ययन एवं चर्चा सत्यग्राही, जिज्ञासु व्यक्तियों के समूह में करना जिससे विषयों का अधिगम निष्पक्षता से गहराई से होगा, शंका समाधान में सहयोग मिलेगा। ऐसे व्यक्तियों के अभाव से स्वयं एकान्त, प्रशान्त वातावरण में अध्ययन करना किन्तु

संकीर्ण, हठग्राही, मत-पंथ-परम्परा वादियों के साथ स्वाध्याय, चर्चा नहीं करना क्योंकि ऐसे व्यक्ति उदार, सत्याग्राही, सहज-सरल, शान्त नहीं हों सकते हैं जिससे ज्ञान, चर्चा, स्वभाव, व्यवहार भी तदनुकूल होगा।

6) एकान्त में व्याक्तिगत अध्ययन के समय में भी जो विषय महत्वपूर्ण है उसके नीचे रेखा कोई रंगीन स्याही या पेन्सिल आदि से खींचना जिससे वह विषय स्मरण में भी रहता है, देखने में अच्छा लगता है, आवश्यकता पडने पर शीघ्रता से विषय मिल भी जाता है। शंका के विषयों को स्पष्ट करने के लिए समाधानार्थे प्रश्न वाचक चिन्ह लगाना। योग्य व्यक्तियों से प्रत्यक्ष या लिखित रूप से समाधान करना। ऐसे व्यक्तियों से समाधान नहीं होने पर भी विभिन्न ग्रंथों के गहन अध्ययन, मनन, चिंतन से धीरे-धीरे शंका-समाधान होता जाता है।

7) जो विषय ग्रंथों से अध्ययन किया जाता है या प्रवचनादि से श्रवण किया जाता है उसे स्व-भाषा, स्व-पद्धति से नोटबुक में लिखना। आवश्यकतानुसार उस लिखित विषयों का भी अध्ययन, संशोधन, संवर्द्धन करना।

8) अध्ययन में रुचि को बढाने के लिए पहले स्व-रुचिकर सरल विषयों (कथा, कहानी, उदाहरण, प्रेरक प्रसंग, संस्मरण, महापुरुषों की जीवनी, पुराण, चारित्र) का अध्ययन करना, उसे दूसरें योग्य व्यक्तियों को भी सुनाना।

9) दूसरों को भी ज्ञान दान देना। यथा - शास्त्र दान करना, शास्त्र प्रकाशन करना, दूसरों को निःशुल्क अध्यापन कराना, कक्षा-शिविर-संगोष्ठी आदि का आयोजन करना, प्रवचन करना, ग्रन्थालय की स्थापना करना, अनुवाद-सम्पादन करना, लेख-साहित्य लिखना। देश-विदेश में स्कूल-कॉलेज में ज्ञान का प्रचार-प्रसार करना।

10) रुचि, योग्यता के अनुसार विभिन्न धर्म, दर्शन, विज्ञान, गणित, मनोविज्ञान, तर्क, आयुर्वेद, कला, साहित्य, पुराण आदि का निष्पक्ष, सत्यग्राही अध्ययन, समन्वय करना।

11) आधुनिक विज्ञान भले अपूर्ण तथा विशेषत: भौतिक है तथापि उस की पद्धति एवं दृष्टि सत्यग्राही, उदार, प्रगतिशील, परिवर्तनशील, सापेक्षता से युक्त, भूल-सुधार वादी होने से विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन, समन्वय अपेक्षणीय है। इससे दृष्टिकोण, ज्ञान, पद्धति आदि सूक्ष्म, सत्य-तथ्यात्मक, उदार, गाणितिय, समसामयिक, वैज्ञानिक बनती है।

12) आध्यात्मिक रहस्य को मानना-जानना-आत्मसात् करना ही मुख्य ध्येय है। इसके लिए सरल माध्मय रूपी भाषा चुनना चाहिए। यदि भाषा ही दुरुह हो तो अति गहन आध्यात्मिक विषय का परिज्ञान कैसे होगा ? साध्य स्वरूप सत्य-तथ्य, ध्येय, उपादेय, ग्रहणीय को महत्व देना चाहिए न कि केवल साधन स्वरूप भाषा को।

13) सत्य-तथ्य पूर्ण अमूर्तिक आध्यात्मिक ज्ञान अभूतपूर्व, अभावित, अश्रुत, सूक्ष्म गहन, गंभीर, विस्तृत, अनन्त होने के कारण इसे अधिकांश साधारण व्यक्ति, पढे-लिखे व्यक्ति, पंडित, प्रोफेसर, वैज्ञानिक, लेखक, साहित्यकार, यहाँ तक कि रुढिवादी, पंथवादी धार्मिक जन से लेकर साधु-संत, आचार्य तक न जानते हैं, न मानते हैं, न अनुभव करते हैं न प्रचार-प्रसार करते हैं। इसलिए आध्यात्मिक ज्ञान दुरुह, दुर्लभ है, इसलिए यह ज्ञान-अनुभव जिसे है वह विश्व में श्रेष्ठ है, ज्येष्ठ है, पूजनीय है, आदर्श है। उस महान् विभूति को प्राय: संसार समझ नहीं पाता है, बहुमान-आदर नहीं दे पाता है, सदुपयोग नहीं कर पाता है। तथापि ऐसे महान् व्यक्ति स्वयं को छोटा नहीं माने या नहीं मानते हैं। वह मानते हैं कि दूसरों में योग्यता नहीं होने के कारण मुझे समझ नहीं पाते हैं। ये मेरी कमियाँ नहीं है परंतु मेरी महानता को समझने की शक्ति दूसरों में नहीं होने से दूसरों की कमियाँ हैं। जैसा कि सूर्य को उल्लू नहीं देख पाता है तो इसमें सूर्य का दोष नहीं है अपितु उल्लू की अयोग्यता है। इसलिए ऐसे ज्ञानी को दूसरों से प्रभावित नहीं होना चाहिए और पंथ-मत, रुढि, लोकरञ्जन, भीड (ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि) के अनुसार भी स्वयं को परिवर्तित नहीं करना चाहिए।

ज्ञान प्राप्ति के विभिन्न उपाय -

महान् ज्ञान को प्राप्त करने के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से युक्त शिष्य एवं गुरु की आवश्यकता अनिवार्य है। क्योंकि शिष्य एवं गुरु के अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग सम्पूर्ण कारणों के सम्यक् समवाय से ही ऐसा महान् बोधि लाभ सम्भव है। यथा -

सर्व दु:ख नाशकारी शिक्षा

दु:खाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमपयत्मन्।
दु:खापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥ 2 आत्मानु.

हे आत्मन् ! तू दु:ख से अत्यन्त डरता है और सुख की इच्छा करता है, इसलिए मैं भी तेरे लिए अभीष्ट उसी तत्त्व का प्रतिपादन करता हूँ जो कि तेरे दु:ख को नष्ट करके सुख को करने वाला है।

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किञ्चित्।
त्वं तस्मान्मा भैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात् ॥ 3

यद्यपि इस (आत्मानुशासन) में प्रतिपादित किया जाने वाला कुछ सम्यग्दर्शनादि का उपदेश कदाचित् सुनने में अथवा आचरण के समय में थोडा सा कडुआ (दु:खदायक) प्रतीत हो सकता है, तो भी वह परिणाम में मधुर (हितकर) ही होगा। इसलिए हे आत्मन् ! जिस प्रकार रोगी तीक्ष्ण (कडवी) औषधि से नहीं डरता है उसी प्रकार तू भी उससे डरना नहीं।

जिस प्रकार ज्वर आदि से पीडित बुद्धिमान् मनुष्य उसको नष्ट करने के लिए चिरायता आदि कडवी भी औषधि को प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करता है उसी प्रकार संसार के दु:ख से पीडित भव्य जीवों को इस उपदेश को सुनकर प्रसन्नता पूर्वक तदनुसार आचरण करना चाहिए। कारण यह कि यद्यपि आचरण के समय वह कुछ कष्टकारक अवश्य दिखेगा तो भी उसका फल मधुर (मोक्षप्राप्ति) होगा।

हितोपदेशी दुर्लभ :-

जना घनाश्च वाचाला: सुलभा: स्युर्वुयोत्थिता: ।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षव: ॥ 4

जिनका उत्थान (उत्पति और प्रयत्न) व्यर्थ है ऐसे वाचाल मनुष्य और मेघ दोनों ही सरलता से प्राप्त होते हैं। किन्तु जो भीतर से आर्द्र (दयालु और जल से पूर्ण) होकर जगत् का उद्धार करना चाहते हैं ऐसे वे मनुष्य और मेघ दोनों ही दुर्लभ हैं।

विशेषार्थ- जो मेघ गरजते तो हैं, किन्तु जलहीन होने से बरसते नहीं हैं, वे सरलता से पाये जाते हैं। परन्तु जो जल से परिपूर्ण होकर वर्षा करने के उन्मुख हैं, वे दुर्लभ ही होते है। ठीक इसी प्रकार से जो उपदेशक अर्थहीन अथवा अनर्थकारी उपदेश करते हैं वे तो अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं, किन्तु जो स्वयं मोक्षमार्ग में प्रवृत होकर दयार्द्रचित्त होते हुए अन्य उन्मार्गगामी प्राणियों को उससे उद्धार करने वाले सदुपदेश को करते हैं वे कठिनता से ही प्राप्त होतें हैं। ऐसे ही उपदेशक का प्रयत्न सफल होता है।

हितोपदेशी का स्वरूप -

प्राज्ञ: प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदय: प्रव्यक्तलोकस्थिति: ।
प्रास्ताश: प्रतिभापर: प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तर: ॥
प्राय: प्रश्नसह: प्रभु: परमनोहारी परानिन्दया ।
ब्रुयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधि: प्रस्पष्टमिष्टाक्षर: ॥ 5

जो त्रिकालवर्ती पदार्थों को विषय करने वाली प्रज्ञा से सहित है, समस्त शास्त्रों के रहस्य को जान चुका है, लोक व्यवहार से परिचित है, अर्थलाभ और पूजा-प्रतिष्ठा आदि की इच्छा से रहित है, नवीन-नवीन कल्पना की शक्तिरूप अथवा शीघ्र उत्तर देने की योग्यतारूप उत्कृष्ट प्रतिभा से सम्पन्न है, शान्त है, प्रश्न करने के पूर्व में ही वैसे प्रश्न के उपस्थित होने की सम्भावना से उसके उत्तर को देख चुका है, प्राय: अनेक प्रकार के प्रश्नों के उपस्थित होने पर उनको सहन करने वाला है अर्थात् न तो उनसे घबराता है और न उत्तेजित ही होता है, श्रोताओं के ऊपर प्रभाव डालने वाला है, उनके (श्रोताओं के) मन को आकर्षित करने वाला अथवा उनके मनोगत भाव को जानने वाला है, तथा उत्तमोत्तम अनेक गुणों का स्थानभूत है; ऐसा संघ का

स्वामी आचार्य दूसरों की निन्दा न करके स्पष्ट एवं मधुर शब्दों में धर्मोपदेश देने का अधिकारी होता है।

सच्चे गुरू -

श्रुतमविकलं शुद्धा: वृत्ति: परप्रतिबोधने परिणतिरूरूद्योगोमार्ग प्रवर्तनसद्विधौ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरु: सताम्॥

जिसके परिपूर्ण श्रुत है अर्थात् जो समस्त सिद्धान्त का जानकार है, जिसका चारित्र अथवा मन, वचन व काय की प्रवृति पवित्र है; जो दूसरों को प्रतिबोधित करने में प्रवीण है, मोक्षमार्ग के प्रचाररूप समीचीन कार्य में अतिशय प्रयत्नशील है, जिसकी अन्य विद्वान् स्तुति करते हैं, तथा जो स्वयं भी विशिष्ट विद्वानों की प्रशंसा एवं उन्हें नमस्कारादि करता है, जो अभिमान से रहित है, लोक और लोकमर्यादा का जानकार है, सरल परिणामी है, इस लोक सम्बन्धी इच्छाओं से रहित है, तथा जिसमें और भी आचार्य पद के योग्य गुण विद्यमान है; वही हेयोपादेय-विवेकज्ञान के अभिलाषी शिष्यों का गुरु हो सकता है।

सच्चे शिष्य -

भव्य: किं कुशलं ममेति विमृशन् दु:खाद् भृशं भीतवान्,
सौख्यैषीश्रवणादिबुद्धिविभव: श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।
धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं,
गृह्णन् धर्मकथां श्रुतावधिकृत: शास्यो निरस्ताग्रह: ॥ 7

जो भव्य है; मेरे लिये हितकारक मार्ग कौन-सा है, इसका विचार करने वाला है; दुख से अत्यन्त डरा हुआ है, यथार्थ सुख का अभिलाषी है, श्रवण आदि रूप बुद्धि वैभव से सम्पन्न है, तथा उपदेश को सुनकर और उसके विषय में स्पष्टता से विचार करके जो युक्ति व आगम से सिद्ध है ऐसे सुखकारक दयामय धर्म को ग्रहण करने वाला है; ऐसा दुराग्रह से रहित शिष्य धर्मकथा के सुनने में अधिकारी माना गया है।

यहाँ धर्मोपदेश के सुनने का अधिकारी कौन है, इस प्रकार श्रोता के गुणों का विचार करते हुए सबसे पहले यह बतलाया है कि वह भव्य होना चाहिए। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त करके भविष्य में अनन्त चतुष्टय स्वरुप से परिणत होने वाला है वह भव्य कहलाता है। यदि श्रोता इस प्रकार का भव्य नहीं है तो उसे उपदेश देना व्यर्थ ही होगा। कारण कि जिस प्रकार पानी के सींचने से ही मिट्टी गीलेपन को प्राप्त हो सकती है उस प्रकार पत्थर नहीं हो सकता, अथवा जिस प्रकार नवीन घट के ऊपर जल बिन्दुओं के डालने पर वह उन्हें आत्मसात् कर

लेता है उस प्रकार घी आदि से चिक्कणता को प्राप्त हुआ घट उन्हें आत्मसात् नहीं कर सकता है - वे इधर उधर बिखर कर नीचे गिर जाती हैं। ठीक यही स्थिति उस श्रोता की भी है - जिस श्रोता का हृदय सरल है वह सदुपदेश को ग्रहण करके तदनुसार प्रवृत्ति करने में प्रयत्नशील होता है, किंतु जिसका हृदय कठोर है उसके ऊपर सदुपदेश का कुछ भी प्रभाव नहीं पडता। अतएव सबसे पहले उसका भव्य होना आवश्यक है। दूसरी विशेषता उसकी यह निर्दिष्ट की गई है कि उसे हिताहित का विवेक होना चाहिए। कारण कि मेरा आत्मकल्याण किस प्रकार से हो सकता है, यह विचार यदि श्रोता के रहता है तब तो वह सदुपदेश को सुनकर तदनुसार कल्याण मार्ग में चलने के लिए उद्यत हो सकता है। परंतु यदि उसे आत्महित की चिंता अथवा हित और अहित का विवेक नहीं है तो मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा। किंतु जब और जिस प्रकार का अनुकूल या प्रतिकूल उपदेश उसे प्राप्त होगा तदनुसार वह अस्थिरता से आचरण करता रहेगा। इस प्रकार से वह दुःखी ही बना रहेगा। इसलिए उसमें आत्महित का विचार और उसके परीक्षण की योग्यता अवश्य होना चाहिए। इसी प्रकार उसे दुःख का भय और सुख की अभिलाषा भी होनी चाहिए, अन्यथा यदि उसे दुःख से किसी प्रकार का भय नहीं है या सुख की अभिलाषा नहीं है तो फिर भला वह दुःख को दूर करने वाले सुख के मार्ग में प्रवृत्त ही क्यों होगा ? नहीं होगा। अतएव उसे दुःख से भयभीत और सुखाभिलाषी भी अवश्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसमें निम्न प्रकार बुद्धि का वैभव या श्रोता के आठ गुण भी होने चाहिए-

शुश्रुषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
स्मृत ूहापोहनिर्णीतिः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः ॥

सबसे पहले उसे उपदेश सुनने की उत्कंठा (शुश्रुषा) होनी चाहिए, अन्यथा तदनुसार आचरण करना तो दूर रहा किंतु वह उसे रुचि पूर्वक सुनेगा भी नहीं। अथवा शुश्रुषा से अभिप्राय गुरु की सेवा का भी हो सकता है, क्योंकि वह भी ज्ञान प्राप्ति का साधन है। इसके अनन्तर श्रवण (सुनना), सुने हुए अर्थ को ग्रहण करना, ग्रहण किये हुए अर्थ को हृदय में धारण करना, उसका स्मरण रखना, उसके योग्यायोग्य का युक्ति पूर्वक विचार करना, इस विचार से जो योग्य प्रमाणित हो उसे ग्रहण करके अयोग्य अर्थ को छोडना, तथा योग्य तत्त्व के विषय में दृढता रहना, ये श्रोता के आठ गुण हैं जो उसमें होने चाहिए। उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त श्रोता में हठाग्रह का अभाव भी होना चाहिए, क्योंकि वह यदि हठाग्रही है तो वह यथावत् वस्तु स्वरूप का विचार नहीं कर सकेगा। कहा भी है-

आग्रही वत् निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

अर्थात् दुराग्रही मनुष्य ने जो पक्ष निश्चित् कर रखा है वह युक्ति को उसी ओर ले जाना चाहता है। किंतु जो आग्रह से रहित होकर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना चाहता है वह युक्ति का अनुसरण करके उसके ऊपर विचार करता और तदनुसार वस्तु स्वरूप का निश्चय करता है। इस प्रकार जिस श्रोता में ये गुण विद्यमान होंगे वह सुरुचिपूर्वक धर्मोपदेश को सुन करके तदनुसार आत्महित के मार्ग में अवश्य प्रवृत्त होगा।

सुखार्थी का कर्तव्य :-

पापाद् दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुखप्रसिद्धमिदम्।
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ॥ 8

पाप से दुःख और धर्म से सुख होता है यह बात सब जनों में भले प्रकार प्रसिद्ध है - इसे सब ही जानते हैं। इसलिए जो भव्य प्राणी सुख की अभिलाषा करता है उसे पाप को छोडकर निरन्तर धर्म का आचरण करना चाहिए।

सर्व प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्
सद्वृत्तात् स च तच्च बोधानियतं सोऽप्यागमात् स श्रुतेः।
सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यतः
तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रिये ॥ 9

सब प्राणी शीघ्र ही यथार्थ सुख को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, वह सुख की प्राप्ति समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर होती है, वह कर्मों का क्षय भी सम्यक्चारित्र के निमित्त से होता है, वह सम्यक्चारित्र भी सम्यग्ज्ञान के अधीन है, वह सम्यग्ज्ञान भी आगम से प्राप्त होता है, वह आगम भी द्वादशाङ्ग रूप श्रुत के सुनने से होता है, वह द्वादशाङ्ग श्रुत भी आप्त से आविर्भूत होता है, आप्त भी वही हो सकता है जो समस्त दोषों से रहित है, तथा वे दोष भी राग-द्वेष रूप है। इसलिए सुख के मूल कारण भूत आप्त का (देव का) युक्ति (परीक्षा) पूर्वक विचार करके सज्जन मनुष्य बाह्य एवं अभ्यन्तर लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण सुख देने वाले उसी आप्त का आश्रय करें।

यहाँ यह बतलाया है कि क्षुधा-तृषा आदि अठारह दोषों से रहित आप्त की दिव्य ध्वनि को सुनकर गणधरों के द्वारा द्वादशाङ्ग श्रुत की रचना की जाती है। उसको सुनकर आरातिय आचार्य आगम का प्रणयन करते हैं जिससे कि अभ्यास से साधारण प्राणियों को हिताहित का बोध प्राप्त होता है। इस प्रकार जब प्राणी को हिताहित विवेक के साथ वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाता है तब उसका सम्यक्चारित्र (तप-सींमादि) की ओर झुकाव होता है और इससे वह सम्पूर्ण कर्मों को आत्मा से पृथक् करके शीघ्र ही अविनश्वर निराकुल सुख को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार

परम्परा से उसके मनोरथ की पूर्ति का मूल कारण रागादि दोषों से रहित सर्वदर्शी आप्त ही ठहरता है। अतएव सुखाभिलाषी प्राणियों को ऐसे ही आप्त (प्रामाणिक वक्ता) का स्मरण, चिंतन एवं उपासना आदि करनी चाहिए।

सर्वज्ञ, प्रामाणिक, आप्त से सुनने मात्र से शास्त्रों की पढाई (रीडिंग) मात्र से या विभिन्न इंद्रियों से उसके योग्य विषयों को ग्रहण मात्र से ज्ञान की परिपक्वता की पूर्णता नहीं हो जाती है जैसा कि भोजन निगलकर पेट में पहुँचाने मात्र से उस भोजन से कैलोरी/रस/ऊर्जा प्राप्त नहीं हो जाती है; जब तक की भोजन पचता नहीं है वैसा ही जानकारियाँ/पढाई, सुनना आदि ज्ञान रूप से तब तक परिणमन नहीं कर लेता है; जब तक उसे मनन, चिंतन, अनुप्रेक्षा, परीक्षण, निरीक्षण, ध्यानादि के माध्यम से आत्मसात् करके, अनुभव करके, प्रायोगिक नहीं किया जाता है। सामान्य जानकारियाँ आदि को स्मृति, अनुभव ज्ञान आदि में परिणमन के उपायों का वर्णन निम्नोक्त है -

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्॥ 13

पृ. 67 (स्व. के सूत्र)

मति, स्मृति संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इत्यादि अन्य पदार्थ नहीं हैं अर्थात् मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं। मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप अन्तरंग निमित्त से उत्पन्न हुए उपयोग को विषय करने के कारण मतिज्ञान एक है तथापि कुछ विशेष कारणों से उसमें उपरोक्त भेद हो जाते हैं।

1- **मति** -"**मननं मतिः**" जो मनन किया जाता है उसे मति कहते हैं। मन और इन्द्रिय से वर्तमान काल के पदार्थों का ज्ञान होना मति है।

2- **स्मृति**-"**स्मरणं स्मृति**" स्मरण करना स्मृति है। पहले जाने हुए पदार्थों का वर्तमान में स्मरण आने को स्मृति कहते हैं।

3- **संज्ञा**- "**सज्ञानं संज्ञा**" वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर ह वही है इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड रूप ज्ञान को संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

4- **चिन्ता** -किन्हीं दो पदार्थों के कार्य -कारण आदि सम्बन्ध के ज्ञान को चिन्ता कहते हैं। इसको तर्क भी कहते हैं। जैसे-अग्नि के बिना धूम नहीं होता है, आत्मा के बिना शरीर व्यापार, वचन व्यापार नहीं हो सकते हैं, पुद्गल के बिना स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार कार्य कारण संबंध का विचार करना चिंता है। सक्षिप्तः व्याप्ति के ज्ञान को चिंता कहते हैं।

5- **अभिनिबोध**- एक प्रत्यक्ष पदार्थ को देखकर उससे संबंध रखने वाले अप्रत्यक्ष का बोध-ज्ञान होना अभिनिबोध (अनुमान) है। जैसे - पर्वत पर प्रत्यक्ष धुम्र को देखकर उससे संबंध रखने वाली अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान होना। "इति" शब्द से प्रतिभा, बुद्धि, मेधा आदि को ग्रहण करना चाहिए। दिन या रात्रि में कारण के बिना

ही जो स्वतः प्रतिभास हो जाता है वह प्रतिभा है। जैसे प्रातः मुझे इष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी या कल मेरा कोई इष्ट संबंधी आयेगा आदि।

अर्थ ग्रहण करने की शक्ति को "**बुद्धि**" ये कहते हैं। पाठ ग्रहण करने की शक्ति का नाम "**मेधा**" है। कहा भी है आगमाश्रित ज्ञान **मति** है। **बुद्धि** तत्कालीन पदार्थ का साक्षात्कार करती है। **प्रज्ञा** अतीत को तथा **मेधा** त्रिकालवर्ती पदार्थों का परिज्ञान करती है। नवीन-नवीन उन्मेषशालीनी **प्रतिभा** है।

स्मरण रखने की पद्धति -

किसी भी विषय को पढकर, देखकर, सुनकर अथवा अन्य किसी माध्यम से ग्रहण करके उसे स्मरण रखने का क्रम निम्न प्रकार है-

अवग्रहेहावायधारणाः। 15 (स्वतंत्रता के सूत्र)

अवग्रह (Avagraha or perception), ईहा (Conception), आवाय (Judgement), धारणा (Retention)

अवग्रह, ईहा, आवाय, और धारणा ये मति ज्ञान के चार भेद हैं। इस सूत्र में ज्ञान प्राप्ति के मनोवैज्ञानिक प्रणाली का वर्णन किया गया है। किसी भी विषय के धारणा रूपी ज्ञान के लिए किन-किन मनोवैज्ञानिक प्रणालियों से गुजरना पडता है उसका वर्णन किया गया है। विद्यार्थियों को इस सूत्र में प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक प्रणाली से अध्यन करना चाहिए जिससे उनकी धारणा शक्ति (स्मरण शक्ति) अधिक हो सकती है।

विषय और विषयी के संबंध के बाद होने वाले प्रथम ग्रहण को अवग्रह कहते हैं। विषय और विषयी सन्निपात (संबंध) होने पर दर्शन होता है। उसके पश्चात् जो पदार्थ का ग्रहण होता है वह 'अवग्रह' कहलाता है। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा यह शुक्ल रूप है ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है। अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों में उसके विषय में विशेष जानने की इच्छा ईहा कहलाती है। जैसे, "जो शुक्ल रूप देखा क्या वह वकपंक्तिहै? इस प्रकार जानने की इच्छा को "ईहा" कहते हैं। विशेष के निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे "आवा" कहते हैं। जैसे- उत्पतन, निपतन और पंखविक्षेप आदि के द्वारा 'यह वकपंक्ति ही है ध्वजा नहीं है' ऐसा निश्चय होना आवाय है। जानी हुई वस्तु का जिस कारण कालान्तर में विस्मरण नहीं होता उसे 'धारणा' कहते हैं। जैसे - यह वही वकपंक्ति है जिसे प्रातःकाल मैंने देखा था, ऐसा जानना धारणा है। सूत्र में इन अवग्रहादिक का उपन्यास क्रम इनके उत्पत्ति क्रम की अपेक्षा किया है। तात्पर्य यह है कि, जिस क्रम से ये ज्ञान उत्पन्न होते हैं उसी क्रम से इनका सूत्र में निर्देश किया है। गोम्मटसार जीवकांड में कहा भी गया है -

अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहयमणिंदिइंदियजं।
अवगहईहावायाधारणगा होंतिपत्तेयं ॥306 गो.जीव.

इंद्रिय और अनिंद्रिय (मन) की सहायता से अभिमुख और नियमित पदार्थ को 'अभिमुख' कहते हैं । जैसे -चक्षु का रूप नियत है इस ही तरह जिस -जिस इंद्रिय का जो - जो विषय निश्चित है उसको नियमित कहते हैं। इस तरह के पदार्थों का मन अथवा स्पर्शन आदिक पाँचों इंद्रियों की सहायता से जो ज्ञान होता है उसको 'आभिनिबोधक मतिज्ञान' कहते हैं । इस प्रकार मन और इंद्रिय रूप सहकारी निमित्त भेद की अपेक्षा से मतिज्ञान के छ:ह भेद हो जाते हैं । इसमें भी प्रत्येक के अवग्रह, ईहा, आवाय, धारणा ये चार-चार भेद हैं । प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं। इसलिए छह को चार से गुणा करने पर मतिज्ञान के 24 भेद हो जाते हैं ।

विसयाणं विसइणं, संजोगाणंतरं हवे णियमा।
अवगहणाणं गहिदे, विसेसकंखा हवे ईहा ॥ 308

पदार्थ और इंद्रियों का योग्य क्षेत्र में अवस्थान रूप संबंध होने पर सामान्य अवलोकन या निर्विकल्प ग्रहण रूप दर्शन होता है। और इसके अनंतर विशेष आकार आदि को ग्रहण करने वाला अवग्रह ज्ञान होता है। इसके अनंतर जिस पदार्थ को अवग्रह ने ग्रहण किया है उस ही के किसी विशेष अंश को ग्रहण करने वाला ईहा ज्ञान होता है।

ईहणकरणेण जदा, सुणिण्णिओ होदि सो अवाओ दु।
कालंतरे वि णिण्णिदवत्थुसुमरणस्स कारणं तुरियं॥ 309

ईहा ज्ञान के अनंतर वस्तु के विशेष चिन्हों को देखकर जो इसका विशेष निर्णय होता है उसको **आवा** कहते हैं। जैसे भाषा, वेश विन्यास आदि को देखकर **यह दाक्षिणात्य ही है** इस तरह के निश्चय को आवाय कहते हैं । जिसके द्वारा निर्णीत वस्तु का कलान्तर में भी विस्मरण न हो उसको धारणा ज्ञान कहते हैं।

अनुच्छेद-12

लौकिक एवं धार्मिक शिक्षा/ज्ञान में समुचित विकास के नियम

समुचित जल, वायु, सूर्य रश्मि, खाद, मृदा, संरक्षण, क्षेत्र (फैलाव क्षेत्र) के कारण जिस प्रकार एक योग्य बीज विकास करता हुआ विशाल वृक्ष बनकर प्रचुर फूल-फल, बीज, छाया, प्राणवायु, लकडी, औषधि आदि को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार समुचित शिक्षा, शिक्षक, पुस्तक, अध्यन, परीक्षण, निरीक्षण, चिंतन, मनन, ध्यान, योगासन, भोजन, भ्रमण, जिज्ञासा, रुचि, विश्राम, परिकल्पना, सतत् अभ्यास, प्रायोगिककरण आदि से एक योग्य विद्यार्थी (लौकिक या धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक शिशु से लेकर विद्वान्) महान् ज्ञानी बनकर स्व-पर-समाज-राष्ट्र-विश्व का कल्याण कर सकता है।

इस शोधपूर्ण लेख में मैं (आ. कनकनंदी) देश-विदेश के प्राचीन एवं आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों के साहित्यों तथा मेरा दीर्घकालीन (45 वर्ष) पंद्रह प्रदेशों के हजारों ग्रामों से लेकर महानगरों के प्राथमिक विद्यार्थी से लेकर शिक्षक, प्राचार्य, वैज्ञानिक, साधु-संत-आचार्यों के अध्यन-अध्यापन के अनुभव पर लिख रहा हूँ, जिससे विद्यार्थी लाभान्वित हो सके।

1) समुचित मुक्त वातावरण -

जैसा कि उपर्युक्त कारणों से योग्य बीज विशाल वृक्ष बनता है, उस से विपरीत कारणों से या अपर्याप्त कारणों से बीज विशाल वृक्ष नहीं बन सकता है। अच्छे से अच्छा नारियल, आम, ईमली आदि के बीज को भी यदि गमले में बोकर महलों के कक्ष में रखा जावें और समुचित पानी, खाद, सुरक्षा का प्रबन्ध किया जावे तथापि वे बीज अंकुरित होकर वैसा विशाल वृक्ष नहीं बन सकते हैं, जैसा कि वे मुक्त वातावरण, क्षेत्र में समुचित पानी आदि को प्राप्त करके आंधी, तूफान आदि को भी सहन करके विशाल वृक्ष बन सकते हैं। वैसा ही जो विद्यार्थी तनाव-दबाव-संक्लेश से रहित मुक्त शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, शैक्षणिक, राष्ट्रीय वातावरण में स्वेच्छा से रुचि पूर्वक, जिज्ञासा सहित अध्यन करता है वह जैसा सर्वांगीण विकास कर सकता है वैसा विकास तनाव-दबाव-संक्लेश से सहित शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, शैक्षणिक, राष्ट्रीय वातावरण में अनिच्छा पूर्वक अरुचि से जिज्ञासा रहित केवल पुस्तकीय रटंत ज्ञान से नहीं कर सकता है।

शारीरिक-मानसिक रूप से अविकसित दो से ढाई वर्ष के शिशुओं को उनकी इच्छा तथा क्षमता के विपरीत स्कूल में बल पूर्वक भेज दिया जाता है। स्कूल के व्यापारिक, दबावपूर्ण कृत्रिम, अस्वच्छ वातावरण में भयभीत-आशंकित, असुरक्षित मनस्थिति में बच्चों के मन में ठूँस-ठूँस-कर जानकारियाँ भरी जाती है। जिस प्रकार रुग्ण शरीर वाला अपच रोगी के उस की रुचि के विरुद्ध भोजन मुख में ठूँसने पर, पेट में भर देने पर भी वह भोजन पचता नहीं है, कैलोरी/रस/ऊर्जा का कारण न बनकर और भी अधिक रोग कारक बनता है, वैसा ही उपर्युक्त जानकारियाँ शारीरिक, मानसिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि के विभिन्न रोग के कारण बनती है। इसलिए ऐसी शिक्षा को महात्मा गाँधी, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा देश-विदेश के अनेक मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्री अयोग्य मानते हैं।

कुछ वर्ष के बाद जैसे-तैसे अध्यन समाप्त के बाद आयु तथा जानकारियाँ पहले से कुछ अधिक होने के उपरान्त भी नवीन अध्यन प्राय: कोई नहीं करते हैं। प्रथमत: विद्यार्थी जीवन में जो पढाई से पीडा, अरुचि, घृणा हुई थी उसके कारण; द्वितीयत: विद्यालय की पढाई को ही ज्ञानार्जन मानने से तथा उपरोक्त पढाई के समाप्त के बाद स्वयं के विद्यार्थी जीवन भी समाप्त हो जाता है इस मानसिकता के कारण आगे ज्ञानार्जन नहीं करते हैं।

2) विविधता, आचरण तथा व्यापकता से युक्त अध्यन -

विद्यालयीन अध्यन, धार्मिक अध्यन तथा इसके अतिरिक्त अध्यन में भी यथा योग्य विभिन्न विधाओं का तुलनात्मक अध्यन, प्रायोगिकरण, धार्मिक-सांस्कृतिक-सामाजिक-राष्ट्रीय गतिविधियों में सह भागिता, माता-पिता-गुरु-रोगी-अपंग-असहाय-संकटापन्न मनुष्य, पशु-पक्षी, प्रकृति की सेवा-सुरक्षा आदि कार्य भी करते रहना चाहिए। इससे ज्ञान में वृद्धि, परिपक्वता होने के साथ-साथ ज्ञान का यथार्थ फलस्वरूप जो आचरण है उसे प्राप्त किया जाता है। अन्यथा "ज्ञान भारं क्रिया बिना" के अनुसार वह ज्ञान केवल कागजी, अनुपयोगी, अनुत्पादक होकर भार स्वरूप हो जाता है। जैसा कि भुक्त भोजन पाचन के बिना पेट के लिए भारस्वरूप बनता है, रोग कारक बनता है। भोजन के पाचन के लिए तथा जीवन के लिए जिस प्रकार पानी तथा पानी से भी अधिक प्राणवायु (ऑक्सीजन) की आवश्यकता पडती है उसी प्रकार शिक्षा में नैतिकता तथा नैतिकता से भी अधिक आध्यात्मिकता की आवश्यकता है। आकाश जिस प्रकार सर्वव्यापी है उसी प्रकार शिक्षा, धर्म, समाज, राष्ट्र, कानून, राजनीति, विज्ञान, कला, व्यापार, व्यवहार, आचरण, लेन-

देन आदि में नैतिकता एवं आध्यात्मिकता व्याप्त है। नैतिकता, आध्यात्मिकता के बिना उपर्युक्त समस्त विधाएँ प्राण/आत्मा के बिना शरीर के समान शव है, मृत है, भारस्वरूप, अहितकारी है।

3) ज्ञान की यात्रा अनन्त तथा आनन्ददायी -

ज्ञान की यात्रा अनन्त है। क्योंकि ज्ञान अनन्त है। ज्ञान की पूर्णता कभी स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, वैज्ञानिक अनुसंधान केन्द्र, गुरुकुल में नहीं हो जाती हैं। वहाँ तो केवल मानचित्र की जानकारी के समान ज्ञान, सत्य, आत्मा आदि की जानकारी प्राप्त होती है। जैसा कि मानचित्र के जानकारी के अनुसार यात्रा/क्रिया करने पर लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है वैसा ही जानकारी से जब आत्मिक आनन्द अनुभव हुआ है तब जानकारी ज्ञान रूप से परिणमन किया है ऐसा जानना चाहिए अन्यथा वह कोरी जानकारी/सूचना/पुस्तकीय रटन्त शब्द है। जैसा कि भुक्त भोजन का पाचन तब प्रारंभ होता माना जाता है जब भोजन से रसादि बनना प्रारंभ होता है। भोजन से रसादि बनने से जिस प्रकार शक्ति बढती है उसी प्रकार जानकारी से आनन्द/ज्ञान बढने से नैतिक, चारित्रिक, आध्यात्मिक शक्ति बढती है। इसलिए ही तो "णाणं पयासणं" "न ही ज्ञानेन सदृषं पवित्रमिह विद्यते" "ज्ञानामृतम्" "knowledge is supreme light" "knowledge is supreme Power" कहा है। इससे विपरीत "विद्याविहिनं पशु" "सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्यनास्ति अंध एव स:" "अण्णाणि किं जाणइ पुण्णं पावगं सें असे" "पढमं णाणं तदो दा" कहा है। अत: मोक्ष मार्ग में सम्यग्ज्ञान को सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्चारित्र के मध्य में रखा गया है क्योंकि सम्यग्ज्ञान- सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्चारित्र को प्रकाशित करता है, शुद्ध करता है, संबल देता है। इसलिए जिस अध्यन से आनन्द अनुभव होता है उसे अध्यन में रुचि होती है, मन लगता है जिससे उसका अध्यन आगे सतत मृत्यु तक चलता है। इतना ही नहीं उसकी ज्ञानाराधना जन्मजन्मातंर में भी चलती रहती है जब तक की वह अमृत नहीं बन जाता है। अमृत तक उसकी यात्रा अनन्त होती है क्योंकि अमृत/मोक्ष/परिपूर्णता/शुद्धता/परमात्मा/सर्वज्ञ का स्वरूप अनन्त होता है। इसके पूर्व-पूर्व तक भले वह कोई भी देव, दानव, मनुष्य, ऋषि, मुनि, लेखक, कवि, साहित्यकार, वैज्ञानिक, प्राध्यापक, प्रोफेसर यहाँ तक की गणधर भी क्यों न हो उसकी ज्ञान-यात्रा पूर्ण नहीं होती है। देव से लेकर गणधर तक के ज्ञान यथा योग्य संख्यात, असंख्यात होता है। अनन्त ज्ञान तो सर्वज्ञ परमात्मा का होता है। इस अवस्था के पहले-पहले तक सब कोई विद्यार्थी है, शिष्य है, कोई भी परम् गुरु नहीं है। हजारों, लाखों बी.ए., एम.ए., पी.एच.डी., प्राचार्य, शास्त्री, आचार्य बनने के बाद भी कोई परम गुरू/

शास्ता/आप्त/शिक्षक नहीं हो सकता है। ज्ञान की पूर्णता तब हुई जानना चाहिए, जब अक्षय-अनन्त आनन्द/शांति, सुख, शक्ति का प्रकटी करण/अनुभव हो। यह ही इसके लिए प्रमाण/साक्षी है। इसके लिए ही ऋषि, मुनि, गणधर यहाँ तक की चार ज्ञान, चौसठ ऋद्धियों के स्वामी तीर्थंकर मुनि भी मौन साधना करते हैं। तीर्थंकर मुनि जो चार ज्ञान के धारी होते हैं, वे भी अनन्त ज्ञान के पहले इसलिए उपदेश नहीं करते हैं कि अनन्त ज्ञान/सर्वज्ञता के बिना पूर्ण यथार्थ सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता है और अनन्त ज्ञान के बिना पूर्ण यथार्थ प्रतिपादन नहीं हो सकता है। सर्वज्ञ को इतना ज्ञान होता है कि वे एक साथ विश्व की संपूर्ण भाषाओं (718 भाषा) में लाखों वर्ष बोलने पर भी उस अनन्त ज्ञान के अनन्त वां भाग प्रतिपादित करते हैं। वे जितना बोलते हैं उसका अनन्तवाँ भाग चार ज्ञान तथा चौसठ ऋद्धियों के स्वामी गणधर समझते हैं। गणधर जो समझते हैं उसका बहुत ही कम भाग शास्त्रों में लिपिबद्ध करते हैं। उपलब्ध शास्त्र उन शास्त्रों के बहुत ही कम अंश है। उसे भी अधिकांश व्यक्ति से लेकर विद्वान्, आचार्य तक अध्यन नहीं कर पाते। उसके अर्थ, भावार्थ, रहस्य आदि को जानना तो बहुत दूर है। इसी प्रकार स्कूल, कॉलेज आदि से कुछ डिग्रियाँ प्राप्त करने मात्र से ज्ञान का अनन्तवाँ भाग भी प्राप्त नहीं होता है। अत: धार्मिक या लौकिक थोडा सा ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानार्जन को स्थगित नहीं कर देना चाहिए, न ही घमंड करना चाहिए, न ही उस ज्ञान का दुरूपयोग करना चाहिए।

धार्मिक हो या लौकिक शिक्षा/ज्ञान जिसे आनन्द/शांति/एकाग्रता प्राप्त नहीं होती है उससे शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक लाभ के-परिवर्तन से उसे क्षति पहुँचती है। नये प्रयोगों से पता चला है कि कॉलेज और विश्वविद्यालयों में पढने वाले छात्रों के दिमागपर काफी दबाव बना रहता है और इससे उनके दिमाग की क्षति भी हो सकती है। अमरीका के आयोवा प्रान्त में महर्षि युनिवर्सिटी ऑफ मेनेजमेंट ने छात्रों के दिमाग की इसी क्षति का आकलन करने के लिए नई व्यवस्था लागू की है। यह जानकारी ब्रेन इंटिग्रेशन रिपोर्ट कार्ड से दी जायेगी। महर्षि युनिवर्सिटी अमरीका में पहली बार नेशनल कॉन्फ्रेंस का आयोजन किया। कॉन्फ्रेंस में बताया गया कि शैक्षिक तनाव, खराब भोजन, शराब का सेवन तथा नींद में कमी के कारण दिमाग पर बहुत बुरा असर पडता है। यह युनिवर्सिटी महर्षि महेश योगी के ज्ञान और योग की विचार धारा का प्रचार-प्रसार करती है। युनिवर्सिटी का कहना है कि शैक्षिक तनाव से दिमाग के प्रफिंटल कॉरटैक्स का नुकसान होता है। अगर यह नुकसान जारी रहा तो छात्रों में चिंता और अवसाद बढता है, साथ ही आँख की रोशनी पर भी प्रभाव पडता है। कई बार तो छात्र इसके कारण उग्र व्यवहार भी करने लगते हैं। विश्वविद्यालयों के अधिकारियों का

कहना हैं कि ध्यान और योग से दिमाग की शक्ति को वापस हासिल किया जा सकता है और इससे छात्रों के शैक्षिक प्रदर्शन पर भी उल्लेखनीय प्रभाव पडता है। युनिवर्सिटी के फिजीओलोजी एण्ड हेल्थ विभाग के प्रमुख फ्रेड ट्रेविस ने बताया कि अगर उच्च शिक्षा का उद्देश्य छात्रों की तर्क शक्ति को विकसित करना है तो हमें सबसे पहले दिमाग पूरी तरह से विकसित करने पर ध्यान देना होगा। ब्रेन इंटिग्रेशन रिपोर्ट कार्ड के तहत परीक्षा के समय छात्रों के दिमाग की जाँच, उनकी भावनाओं के स्तर की जाँच, नैतिक विचारों की जाँच और तर्कशीलता की जाँच आदि की जाती है। इस युनिवर्सिटी के कुछ विद्यार्थियों का कहना है कि योग क्लास में शामिल होने के बाद उन्होंने अपने अंदर नई ऊर्जा को महसूस किया और परीक्षा में भी उत्साह वर्धक परिणाम सामने आये। अनुभव में, देखने में, सुनने में तथा पढने में आता है कि अधिकांश लौकिक शिक्षित विद्यार्थी से लेकर शिक्षक, प्राचार्य तक कुछ अशिक्षित व्यक्तियों से भी अधिक फैशनी, व्यसनी, आलसी, परावलम्बी, अश्लील, उद्दण्ड, स्वार्थी, भ्रष्टाचारी पाये जाते हैं, तो अधिकांश धार्मिक शिक्षित व्यक्तियों में भी कम वेशी उपर्युक्त दुर्गुणों के साथ-साथ सामान्य सरल-सहज व्यक्तियों से भी अधिक धार्मिक-संकीर्णता-कट्टरता-ईर्ष्या, अंधविश्वास, भेद-भाव आदि पाये जाते हैं। इसलिए उपर्युक्त दोनों प्रकार के शिक्षित व्यक्तियों में अनेक नैतिक, व्यावहारिक, आध्यात्मिक कमियाँ तथा समस्यायें पाई जाती हैं।

लौकिक शिक्षा के साथ-साथ यहाँ तक की धार्मिक शिक्षा में एक बडी कमी/विकृति यह है की प्राय: शिक्षा से डिग्री, नौकरी, सत्ता, संपत्ति, प्रसिद्धि, शादी, सामाजिक प्रतिष्ठादि चाहते हैं। ऐसे क्षुद्र लक्ष्य, उद्देश्य के कारण शिक्षा में समुचित विकास नहीं हो पाता है।

संक्षिप्तत: शिक्षा या विद्या को सत्य-तथ्यात्मक जीवनोपयोगी, उदार, वैज्ञानिक, प्रगतिशील, सर्वांगीण विकासकारी, आनन्ददायी, सर्वजीव हितकारी, सर्वजीव उपकारी, शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक विकास की सहयोगिनी सरल-सहज-नम्रता-स्वावलंबी की पोषिका, दया-करुणा, परोपकार-सेवा-निःस्वार्थ कर्तव्य की प्रेरिका, अनुभव, उत्पादिका, प्रायोगिक-व्यावहारिक प्रणाली से समन्वित होनी चाहिए। उपर्युक्त कारण/विशेषण से ही लौकिक या धार्मिक शिक्षा/ज्ञान में समुचित विकास के नियम हैं। "सा विद्या या विमुक्ते"।

भारतीय संस्कृति आध्यात्म प्रधान, त्यागमय साधु संस्कृति है। क्योंकि प्राचीन तीर्थंकर, गणधर, बुद्ध, धर्मप्रचारक, समाज सुधारक, लेखक, कवि, चिकित्सक, वैज्ञानिक, गणितज्ञ, व्याकरणज्ञ आदि प्राय: साधु थे। अत: उनके द्वारा

प्रतिपादित, लिपिबद्ध ग्रन्थादि में धर्म से अनुसृत ज्ञान-विज्ञान, गणित, चिकित्सा, राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र, दर्शन, तर्क, व्याकरणादि का वर्णन है। अत: प्राचीन ग्रंथों का अध्यन केवल कोरा संकीर्ण साम्प्रदायिक धार्मिक अध्यन नहीं है, परन्तु उपरोक्त ज्ञान-विज्ञानादि का अध्यन है । ऐसा ही आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, गणित आदि का अध्यन भी एकान्तत: सत्य-तथ्य-धर्म विहीन नहीं है। विशेषत: आधुनिक विज्ञान के अध्यन से तो सत्य-धर्म को जानने की एक पद्धति का ज्ञान होता है; संकीर्णता, अंधविश्वास, हठग्रहिता, भेद-भाव, ऊँच-नीच, अपना-पराया की दीवारें टूटती हैं। अत: लौकिक विद्यार्थियों को प्राचीन ग्रंथों का अध्यन करना चाहिए, उसके अनुसार आदर्शमय-आध्यात्मिक जीवन जीने वाले साधु-संत, उपाध्याय, आचार्य आदि से ज्ञानार्जन के साथ-साथ उनकी सेवा, भक्ति, व्यवस्था, सत्संगति करनी चाहिए। इसी प्रकार धार्मिक विद्यार्थियों को भी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का समयोचित तथा समुचित अध्यन तथा प्रायोगिकरण करना चाहिए। इसे सरल भाषा में कहे तो आधुनिकों को धार्मिक बनना चाहिए तथा धार्मिकों को आधुनिक बनना चाहिए। केवल प्राचीन काल में ही इसका समन्वय नहीं हुआ किन्तु वर्तमान में भी देश-विदेश के जितने महान् वैज्ञानिक, लेखक, समाज सुधारक हैं, वे भी सब दार्शनिक, धार्मिक हैं तथा जितने महान् धार्मिक साधु-संत हैं वे भी वैज्ञानिक, लेखक, समाज सुधारक हैं। वैज्ञानिक आदि क्षेत्र में आइन्स्टीन, दौलतराम कोठारी, एम.एम. बजाज, रेस्किन,टालस्टाय, लिंकन, लाल-बाल-पाल, गाँधी, सुभाषचंद्र बोस, राजा राम मोहनराय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विनोबा भावे, डॉ. हेगडेवार गुरुजी, डॉ कलाम तो धार्मिक क्षेत्र में विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, श्रीराम शर्मा आचार्य, आचार्य महावीर कीर्ति, आचार्य तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ, एनीबेसेन्ट आदि-आदि।

मेरा अनुभव है कि प्राय: लौकिक पढाई करने वाले विद्यार्थी से लेकर शिक्षक, प्राचार्य, वैज्ञानिक तक धार्मिक अध्यन नहीं करते हैं। धार्मिक कार्यक्रम, साधु सेवा, आहारदान, प्रवचन श्रवन, धार्मिक कक्षा-शिविर, आदि में भाग नहीं लेते हैं जिससे वे नैतिकता, आध्यात्मिकता, धार्मिक सत्य-तथ्य से वंचित रहते हैं। ऐसा ही प्राय: धार्मिक अध्यन करने वाले भी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, गति-विधियों से दूर रहने के कारण आधुनिकता, वैज्ञानिकता, प्रगतिशीलता आदि से वंचित रह जाते हैं। "**धर्म के बिना विज्ञान अन्धा है और विज्ञान के बिना धर्म पंगु**" के अनुसार धर्म रहित आधुनिक शिक्षा/विज्ञान/आधुनिकता/प्रगतिशीलता अन्धता है, अन्धकार से युक्त है। इसके कारण आधुनिक शिक्षा में जो गतिशीलता,

प्रगतिशीलता, श्रेष्ठता, ज्येष्ठता होनी चाहिए वैसी नहीं हो पा रही हैं। "***विज्ञान के बिना धर्म पंगु***" के अनुसार रुढीवादी धर्म में सक्रियता, प्रगतिशीलता, नवीन विचारधारा आदि गुण नहीं होने के कारण उस धर्म में स्थिरता आ जाती हैं। जिस प्रकार नदी को बाँध दिया जाता है तो पानी स्थिर हो जाता है और स्थिर पानी गंदा होकर सडने लगता है जिससे उसमें रोगाणु, बदबू आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए मैंने एक नारा दिया है - विश्व को प्रगतिशील बनाने के लिए हमें अपूर्ण विज्ञान तथा अंधविश्वास पूर्ण धर्म को त्याग करके उदारवादी, प्रगतिशील वैज्ञानिक धर्म को स्वीकार करना चाहिए।

परमसत्य अनन्त को जाने

सत्य ही है अनादि अनन्त।
अतः होती है सत्य की जीत।।1
सत्य में है शक्ति अनन्त।
अतः सत्य से सब परास्त।।2
सत्य सहित सब है सच्चा।
सत्य के बिना सब है नीचा।।3
सत्य है शिव मंगल सुख।
झुठ है शव दुःखद मृत्यु।।4
धर्म या शान–विज्ञान–शिक्षा।
सत्य के बिना सब है झुठा।।5
सत्य को ध्याये आत्मा को पाये।
आध्यात्म सुख वह ही पाए।।6
न्याय या नीति समाज व्यवस्था।
सत्य से सहित गणित ही सच्चा।।7
समता से युक्त जो भाव पवित्र।
पाता है शान्ति सत्य सहित।।8
जहाँ न होता है राग न द्वेष।
वह है समता आनन्द रूप।।9
दीन न अहं न तेरा न मेरा।
शत्रु–मित्र लाभालाभ से न्यारा।।10
सत्यनिष्ठा से समतायुक्त।
पाता है शान्ति आनंदयुक्त।।11

आचार्य कनकनंदी

अनुच्छेद-13

यथार्थ ज्ञान एवं उसकी उपलब्धि

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिण सासणे॥

जिससे तत्त्व का बोध होता है, जिससे मन का निरोध होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होता है - जिनशासन में उसका नाम ज्ञान है।

जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरुप जाना जाता है, जिसके द्वारा मन का व्यापार रोका जाता है अर्थात् मन को अपने वश में किया जाता है और जिसके द्वारा आत्मा शुद्ध हो जाता है, जीव वीतरागी हो जाता है, वह ज्ञान जिनशासन में प्रमाण है, अर्थात् वह ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराने में कारणभूत है, उपायभूत है। वह ज्ञान संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अकिञ्चित्कर से रहित है।

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मेत्तीं पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे॥ 2

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त हो जाता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है, जिनशासन में वह ज्ञान कहा गया है। जिसके द्वारा जीव राग-स्नेह से और काम-क्रोध आदि से विरक्त होता है- पराङ्मुख होता है और मोक्ष में अनुरक्त होता है, जिसके द्वारा मैत्री भावना अर्थात् द्वेष का अभाव करता है, जिससे एकता होती है, जिनशासन में वही ज्ञान है। यह तात्पर्य हुआ -

श्रीमत्परम् - गम्भीर, स्याद्वादामोघ-लाञ्छनम् ।
जीयात्-त्रैलोक्यनाथस्य, शासनं जिनशासनम्॥

जो अनेक प्राकर की अन्तरंग लक्ष्मी से भरपूर हैं, अत्यन्त गम्भीर "**स्याद्वादे**" जिसका सफल निर्विवाद चिन्ह है तथा तीन लोकों के अधिपति अधोलोक के स्वामी धरणेन्द्र, मध्यलोक के स्वामी चक्रवर्ती व ऊर्ध्वलोक के स्वामी इन्द्र आदि पर जो शासन करने वाले हैं, ऐसे वीतरागी अर्हन्तदेव को "**जिनशासने**" सदा जयवन्त रहे।

रहस्य एवं प्राप्त शिक्षायें :- जिससे जीव को सत्य-तथ्य का प्रबोध होता है, मन की चंचलता दूर होकर मन में शांति होती है, आत्मा की मलिनता दूर होकर आत्मा विशुद्ध होता है, राग/आसक्ति/मोह/तृष्णा/लोभ दूर होता है, श्रेय/मोक्ष में सलग्न होता है, मैत्री/प्रेम/एकता/संगठन/भातृत्व की भावना/प्रभावना होती है, अन्तरंग वैभव सम्पन्न, गंभीर, गहन, उदार, व्यापक अनेकान्त-स्याद्वाद आदि जैन शासन/

जैनधर्म/जैनरहस्य/जैनधर्म से प्राप्त शिक्षायें हैं।

2) जैन धर्म का स्वरूप :-

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो।
देवा वि तं णमंस्संति जस्स धम्मो सया णमो॥

अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म मंगल कहा गया है। जिसका मन सदा धर्म में लगा रहता है उसको देव भी नमस्कार करते हैं।

वत्थु सहावो धम्मो खमादि भावो य दस विहो धम्मो।
रयणतयं य धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। दस प्रकार के क्षमा आदि भावों को धर्म कहते हैं। रत्नत्र को धर्म कहते हैं और जीवों की रक्षा करने को धर्म कहते हैं।

रहस्य एवं प्राप्त शिक्षायें :- जैनधर्म उत्कृष्ट मंगल/पवित्र स्वरूप है जो कि अहिंसा, सयम, तप, वस्तुस्वरूप, उत्तम क्षमा, मृदुता (नम्रता), सरल-सहजता, सत्य, पवित्रता, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य, सम्यग्विश्वास, सच्चा विज्ञान, सदाचरण, जीवों की रक्षा स्वरूप है। उपर्युक्त गुण-धर्म को प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी मानते हैं, अत: इस दृष्टि से वे सब समधर्मावलम्बी/एक/समाान हैं। इतना ही नहीं, यह प्राकृतिक, वैश्विक धर्म है।

3) सर्व जीवों के प्रति क्षमा एवं मित्रता :-

खम्मामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूदेसु वैरं मज्झं ण केण वि॥

मैं संसार के समस्त प्राणियों के प्रति क्षमा भाव धारण करता हूँ। समस्त प्राणी भी मुझ पर क्षमा भाव धारण करें। संसार के सभी जीवों में मेरा मैत्री भाव है तथा किसी भी जीव के साथ मेरा वैर विरोध नहीं है।

रहस्य एवं प्राप्त शिक्षायें :- प्रथमत: स्वयं विश्व के प्रत्येक जीवों को मन-वचन-काय-कृत-कारित-अनुमोदना से क्षमा प्रदान करके पुन:/द्वितीयत: विश्व के प्रत्येक जीवों से क्षमा याचना पूर्वक सबसे निर्वैरत्व रूपी पवित्र मित्रता रखना भी जैन धर्म है। तब तो मनुष्य और उनमें फिर प्रत्येक जैनधर्मावलम्बिओं के प्रति यह उत्तम क्षमा सर्वोत्कृष्ट रूप से सदा-सर्वदा-सर्वथा-सर्वतो भाव से सहज है, प्राकृतिक है।

4) सत्य तथ्य ही ग्राह्य, न कि पंथ-मत :-

स त्वमेवासि निर्दोषो, युक्ति शास्त्रऽविरोधि वाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते, प्रसिद्धेन न बाध्यते॥ 6

हे वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् ! आप ही निर्दोष हैं, कारण आपके अनेकान्तमय स्याद्वाद रूपी वचन आपके शासन (दर्शन) युक्ति, तर्क शास्त्र, प्रत्यक्ष

आदि से निर्बाध/अखण्डित हैं। जो दर्शन सत्य, परस्पर अविरोध है, वह किसी से भी खण्डित नहीं हो सकता है।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्य परिग्रहः ॥

हमारा महावीर से कोई राग नहीं है जिससे उसके पक्ष में आंख मूंद कर गिरा जाये और न कपिल से कोई द्वेष ही है। हमारा तो स्पष्ट विचार है कि जिसके वचन युक्ति युक्त हों, उसी का अनुसरण करो।

रहस्य एवं प्राप्त शिक्षायें :- वस्तु/द्रव्य/सत्य स्वरूप प्राकृतिक है, स्वयं सिद्ध है। सत्य का कोई न कर्ता है, न धर्ता है, न ही हर्ता है। सत्य किसी के पंथ-मत आग्रह से न आबद्ध है, न परिचालित है, न ही प्रभावित है जैसा कि आकाश। हाँ, जीव स्वयं सत्य के अनुसार विचार, विश्वास-विज्ञान-आचरण करके स्वयं सत्य स्वरूप बन सकता है, तब उनके वचन भी सत्य होते हैं। जिनके वचन पूर्वापर अविरोध युक्ति युक्त, सापेक्ष, सर्वजीव हितकारी, सर्वजीव सुखकारी, सत्यनिष्ठ हो उनके वचन ही ग्रहणीय है, न कि किसी पंथ-मत-जाति-राष्ट्र, काल विशेषण से युक्त व्यक्ति के।

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वास वयणा।
जेणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहं चिवयणादो ॥

एकांत वादियों का वचन सर्वथा निरपेक्ष होने से असत्य है। अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शन युक्त जिनेन्द्र भगवान् का वचन सापेक्ष होने से सत्य है।

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणत्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥ स्व भूस्तोत्र

अनेकान्त भी एकान्त नहीं है अर्थात् वह अनेकान्त भी है और एकान्त भी है। प्रमाण गोचर अनेकान्त है और नयगोचर एकान्त है।

भद्दं मिच्छादंसण समूहमइअस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगमस्स ॥

इस गाथा में जिन वचन को मिथ्यादर्शनों का समूहरूप बतलाया है अर्थात् अनेकान्तपूत जिनवाणी, समन्वित बने हुए मिथ्यादर्शनों का समुच्चय है। अर्थ यह है कि जैसे मिथ्यादर्शन कहा जाता है उसके आंशिक ज्ञान में आंशिक सत्य समाविष्ट है। "**षड-दर्शन जिन अंग भणीजे**" आनन्दधन का यह उद्गार भी इसी बात को सूचित करता है। अंशज्ञान को अंश सत्य मानने के बदले सम्पूर्ण सत्य मान लेना ही मिथ्यादर्शन है।

हाथी के सुप्रसिद्ध उदाहरण पर विचार करने से देखा जा सकता है कि समूचे हाथी का ज्ञान होने पर ही एक हाथी पूर्ण रूप से ज्ञात हो सकता है, परंतु यदि

उसके एक-एक अवयव को ही हाथी समझ लिया जाए तो उसे समूचा हाथी समझ लिया, ऐसा नहीं कहा जायेगा परंतु हाथी के एक-एक अंश का ही ज्ञान हुआ है ऐसा कहा जायेगा। हाथी के एक-एक अवयव को हाथी मानने वाले वे अन्धे कैसे पागल थे और इसलिए हाथी के एक-एक अवयव को हाथी मानकर परस्पर झगडने लगे। एक ही ओर की अधूरी बात को पकडकर और उसे पूर्ण सत्य मानकर दूसरे के दृष्टिबिन्दू एवं तत्सापेक्ष समझ को समझने का प्रयत्न नहीं करने वाले तथा पूरा समझे बिना उसकी अवगणना करने वाले आपस-आपस में कितना विरोध और झगडा-टंटा मचाते हैं, यह हमारी आँखों के सामने हम प्रतिदिन देखते हैं। अज्ञान का (दूराग्रहयुक्त) अधूरे ज्ञान का काम ही लडने का है।

जिस प्रकार हाथी असके एक-एक अवयव में नहीं, किंतु उसके सभी अवयवों में समाविष्ट है, उसी प्रकार वस्तु उसके एक अंश में नहीं किंतु उसके सभी अंशों में समुच्चय में रही हुई है। अतः उसके सभी अंशों का ज्ञान होने पर ही वह पूर्ण रूप से ज्ञात समझी जायेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि हाथी के मुख्य-मुख्य सभी अवयवों में हाथी को समझना जिस तरह हाथी के बारे में पूर्ण ज्ञान कहा जाता है, उसी तरह वस्तु को उसके भिन्न-भिन्न स्वरूपों में जानना, उस वस्तु के बारे में पूरी समझ कही जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि वस्तु के एक-एक नहीं किंतु शक्य सभी अंशों के ज्ञान में वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान सन्निहित है। जड अथवा चेतन तत्त्व के उनके अंशों को यदि बराबर समझा जाय तो दार्शनिकों में, हाथी के एक अंग को पकडकर लडने वाले उन लोगों की भाँति, क्या लडाई हो सकती है ?

5) कषाय क्षय से मोक्ष, न कि पंथ की कषाय से

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तत्त्ववादे न च तर्कवादे।
न पक्षपात्ताश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किलमुक्तिरेव ॥

न केवल दिगम्बरत्व स्वीकार करने से मुक्ति मिलती है, न श्वेताम्बरत्व स्वीकार करने से और न तत्त्वों के विषय में वाद-विवाद कर लेने से, न कोई तर्क-वितर्क कर लेने से ही मुक्ति प्राप्त होती है। किसी एक पक्ष का आश्रय लेने से भी मुक्ति नहीं होती। कषायों से मुक्ति ही वास्तव में मुक्ति है।

रहस्य एवं प्राप्त शिक्षायें :- समस्त राग-द्वेष-मोह तथा द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म के सम्पूर्ण क्षय से मोक्ष होता है जो कि आत्मा का शुद्ध स्वरूपभूत है। अतः उस सम्पूर्ण शुद्धता की प्राप्ति के उपाय, नियम, पथ, मार्ग ही व्यवहार धर्म है। किंतु यदि किसी भी धार्मिक नियमादि के कारण या उसके निमित्त से राग-द्वेषादि उत्पन्न होते हैं, बढते हैं, दृढ होते हैं तो वह मियादि धर्म के कारण न बनकर, अधर्म के कारण बन जाते हैं। जैसा कि सही प्रयोग से जल जीवन के लिए कारण है तो उसमें डूबने से मृत्यु

के लिए कारण भी बन जाता है। उसी प्रकार बाह्य धार्मिक क्रिया-काण्ड, पंथ-मत के लिए भी जान लेना चाहिए।

6) सर्व जीवों के प्रति समता :-

समता सर्व भूतेषु संयमः शुभ भावना।
आर्त रौद्र परित्यागस्तद्धि सामायि मतं॥

सब जीवों में समता भाव धारण करना, सयम में शुभ भावना होना आर्तध्यान, रौद्रध्यान का पूर्ण त्याग करना, वह निश्चय से सामायिक माना गया है।

रहस्य एवं प्राप्त शिक्षायें :- विश्व के प्रत्येक जीव के प्रति समता, मन-वचन-काय-इंद्रिय-साधना-समय का सयम/ समुचित सदुपयोग या इसके प्रति शुभ भावना, आर्त-रौद्ररूपी संक्लेश/कुध्यान/कुविचारों का त्याग सामायिक/समता है। इस परिस्थिति में मनुष्य तथा उनमें फिर प्रत्येक जैन धर्मावलम्बियों के प्रति तो समता/ शुभभाव सहज-सुलभ-विधेय है।

- विश्व के सर्वोत्कृष्ट कथनों और विचारों का ज्ञान ही संस्कृति है। **(आर्नल्ड)**
- जो संस्कृति महान् होती है, वह दूसरों की संस्कृति को भय नहीं देती, बल्कि उसे साथ लेकर पवित्रता देती है। गंगा महान् क्यों है ? दूसरे प्रवाहों को स्वयं में मिला लेने के कारण ही वह पवित्र रहती है। **(साने गुरुजी)**
- स्वभाव की गंभीरता, मन की समता, संस्कृति के अंतिम पाठों में से एक है और यह समस्त विश्व को वश में करने वाली शक्ति में पूर्ण विश्वास से उत्पन्न होती है। **(स्वेट मार्डन)**
- कोई भी संस्कृति जीवित नहीं रह सकती, यदि वह अपने को अन्य से पृथक् रखने का प्रयास करे। **(महात्मा गांधी)**
- व्यक्ति की भाँति राष्ट्र भी जीवित रहते हैं और मरते हैं, किन्तु संस्कृति का कभी पतन नहीं होता। **(मेजिनी)**
- संस्कृति की चाहे कोई भी परिभाषा क्यों न हो, किन्तु उसे व्यक्ति, समूह अथवा राष्ट्र की सीमाओं में बाँधना मनुष्य की सबसे बड़ी भूल है। **(नेहरू)**
- उपासना, मत और ईश्वर सम्बन्धी विश्वास की स्वतंत्रता भारतीय संस्कृति की परम्परा रही है। **(अटल बिहारी वाजपेयी)**
- भारतीय सभ्यता और संस्कृति की विशालता और उसकी महत्ता तो सम्पूर्ण मानव के साथ तादात्म्य संबंध स्थापित करने अर्थात् 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की पवित्र भावना में निहित है। **(मदनमोहन मालवीय)**

अनुच्छेद-14

पवित्र कर्त्तव्यों के लिए धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन

आगमोऽनन्तपर्यायो, यतो जनो व्यवस्थितः।
अभिधातुं ततः केन, विस्तरेण स शक्यते।।2 अमितगति श्रावकाचार

जिनभाषित आगम अनंत भेद स्वरूप है इसलिए इसको विस्तार सहित कहने में कौन समर्थ हो सकता है ?

न सम्यक्करणं तस्य, जायते ज्ञानतो विना।
शास्त्रतो न विना ज्ञानं, शास्त्रं तेनाभिधीयते।।7

आवश्यक क्रिया भले प्रकार करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। शास्त्र के बिना ज्ञान नहीं है इसलिए शास्त्र का वर्णन किया जाता है।

जायते न स सर्वत्र, न वाच्यमिति कोविदैः।
स्फुटं सम्यक्कृते तत्र, तस्य सर्वत्र सम्भवात्।।6

आवश्यक क्रियाओं को पंडितों द्वारा व्यर्थ कहना उचित नहीं है क्योंकि आवश्यक क्रियाओं का सम्यक् प्रकार करना फलप्रद है।

लाभपूजायशोऽर्थित्वे, तस्य सम्यक्कृताद्यपि।
प्रशस्ताध्यवसायस्य, संभवो नोपलभ्यते।।8

लाभ, पूजा, यश की इच्छा से सहित आवश्यक क्रियाओं का भली प्रकार से करना भी प्रशस्त परिणाम में कारण नहीं है।

संसारदेहभोगानां, योऽसारत्वमवेक्षते।
कषायेंद्रिययोगानां, जयनिग्रहरोधकृत।।10

जो पुरुष संसार, शरीर, भोगों को असार रूप से देखता है और कषायों को जीतता है, इंद्रियों का दमन करता है मन, वचन, काय के योग (चंचलता) को रोकता है वही आवश्यक क्रिया करने का अधिकारी होता है।

आवश्यकं न कर्त्तव्यं, नैःफल्यादित्यसाम्प्रतम्।
प्रशस्ताध्यवसायस्य, फलस्यात्रोपलब्धितः।।4
प्रशस्ताध्यवसायेन, संचितं कर्म नाश्यते।
काष्ठं काष्ठान्तके नेव, दीप्यामानेन निश्चितम्।।5

कोई कहता है कि आवश्यक क्रियायें करना योग्य नहीं है, क्यों उसके फल से रहितपना है। उसको आचार्यश्री कहते हैं कि यह अयुक्त है। इन आवश्यक क्रियाओं के करने से प्रशस्त परिणामों की प्राप्ति होती है। प्रशस्त परिणामों के होने से संचित कर्म नाश को प्राप्त होते हैं जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि से काष्ठ नष्ट हो जाता है।

औचित्यवेदकः श्राद्धो, विधान करणोवतः।
कर्मनिर्जरणाकांक्षी, स्ववशीकृतमानषः।।22
भक्तिको बुद्धिमानर्थी, बहुमानपरायणः।
पठन श्रवणे योग्यो, विनयंवशभूषितः।।23

ये कालादिक भी आवश्यक क्रियाओं में उचित हैं। ऐसा जिसके ज्ञान, श्रद्धान होता है वह आवश्यक क्रियाओं के करने में उद्यमी होता है, कर्मों की निर्जरा का वांछक होता है और अपने मन को वश में करने वाला होता है।

वह भक्तिवान्, बुद्धिवान्, धर्मार्थी, महाविनय में तत्पर, पढ़ने–सुनने में योग्य तथा विनयसहित आवश्यक क्रियाओं को करने में उद्यमी होता है।

गुणाय जायते शांते, जिनेन्द्रवचनामृतम्।
उपशांतज्वरे पूतं, मैषज्यमिव योजितम्।।24

जिस पुरुष के राग–द्वेष कषायों की मंदता हुई है, उसके जिनेन्द्र भगवान् का वचनामृत गुणकारी होता है। जिस प्रकार जिस पुरुष का ज्वर उपशांत हो जाता है उसके लिए वह औषधी गुणकारक होती है।

सामायिकं स्तवः प्राज्ञैर्वन्दना सप्रतिक्रमा।
प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः, षोढावश्यकमीरितम्।।29

(1)सामायिक, (2) स्तवन, (3) वंदना, (4) प्रतिक्रमण, (5) प्रत्याख्यान, (6) कायोत्सर्ग इस प्रकार षट् आवश्यक प्राज्ञ महापुरुषों ने कहे हैं।

उपर्युक्त प्रकरण से सिद्ध होता है कि जो जिनभाषित आगम अनंत भेद स्वरूप है उसे समग्ररूप से गणधर से लेकर आचार्य तक वर्णन करने के लिए समर्थ नहीं हैं। आगमज्ञान को केवल बौद्धिक रूप से समझने पर उस आगमज्ञान का यथार्थ से फल नहीं मिलता है परंतु आगमज्ञान (शास्त्र) का यथार्थ सदुपयोग अपने नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक कर्त्तव्यों का परिपालन करने में है। स्व आवश्यक क्रियायें भी क्रोध, मान, माया, लोभादि से रहित होकर, इंद्रिय–मन और वचन को संयमित करने पर ही फलदायी बनती हैं। केवल रीतिरिवाज रूप से या परम्परा को निभाने के लिए अथवा दिखाने के लिए अथवा ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि के लिए की जाती हैं तो फलदायी नहीं बनती हैं। उपर्युक्त संपूर्ण वर्णन का रहस्य यह है कि आगमज्ञान/धार्मिक ग्रंथों का ज्ञान जब सत्य को जानने के लिए, समता की साधना के लिए एवं शांति की उपलब्धि के लिए प्रयोग किया जाता है तब अत्यंत लाभकारी है अन्यथा नहीं।

- आंशिक संस्कृति शृंगार की दौडती है, अपरिमित संस्कृति सरलता की ओर। **(बोबी)**
- सभ्यता शरीर है, संस्कृति आत्मा; सभ्यता जानकारी और भिन्न क्षेत्रों में महान् एवं दुःखदायी खोज का परिणाम है, संस्कृति ज्ञान का परिणाम है। **(श्री प्रकाश)**
- ज्ञान का लक्ष्य सत्य है और सत्य आत्मा की भूख है। **(लेसिंग)**
- यदि आपके पास ज्ञान है, तो दूसरों को अपने दीप उससे जला लेने दीजिए। **(मार्गेरट फुलर)**
- अपनी अज्ञानता का अहसास होना ज्ञान की दिशा में एक बहुत बड़ा कदम है। **(डिजरायली)**
- ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य चरित्र–निर्माण होना चाहिए। **(महात्मा गांधी)**

अनुच्छेद–15

आगमज्ञान तत्त्वश्रद्धान सहित संयम से मोक्ष–(परम स्वतंत्रता)

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहण जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि।।(237)

One does not attain liberation (merely) by the (study of) scripture, if he has no faith regard to the nature of reality; or one who has faith can not attain Nirvana, if he is devoid of moral discipline

आगम का ज्ञान, तत्त्वार्थ का श्रद्धान तथा संयमपना ये तीनों यदि एक साथ नहीं होवें तो मोक्ष नहीं हो सकता है– यदि (अत्थेसु सद्दहणं णत्थि) पदार्थों में श्रद्धान नहीं होवे तो (णहि आगमेण सिज्झदि) मात्र आगमन के ज्ञान से सिद्ध नहीं हो सकता है।(अत्थे सद्दहण)पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता हुआ। (असंजदो वा ण णिव्वादि) यदि असंयम है तो भी निर्वाण को प्राप्त नहीं करता है। यदि कोई परमात्मा आदि पदार्थों में श्रद्धान नहीं रखता है तो वह आगम से होने वाला मात्र परमात्मा के ज्ञान से सिद्धि नहीं पा सकता है, तथा चिदानन्दमय एक स्वभाव रूप अपने परमात्मा आदि पदार्थों का श्रद्धान करता हुआ भी यदि विषयों और कषायों के आधीन रहकर असंयमी रहता है तो भी निर्वाण को नहीं पा सकता है।

जैसे किसी पुरुष के हाथ में दीपक है तथा उसको यह निश्चय रूप श्रद्धान नहीं है कि यदि दीपक से देखकर चलूँगा तो कुएँ में गिरने का अवसर प्राप्त होने पर कुएँ में मैं न गिरूँगा, इसमें मेरा हित है, उसके पास दीपक होने से भी लाभ नहीं है जो कुंवे में गिरता है। तैसे ही किसी जीव का परमागम के आधार से अपने आत्मा का ऐसा एक ज्ञान है जो सर्व ज्ञेय पदार्थ के आकारों को हाथ पर रखे हुए आंवले के समान, स्पष्ट जानने को समर्थ है। अपनी आत्मा को ऐसा जानता हुआ भी यदि यह निश्चय रूप श्रद्धान नहीं है कि मेरा आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है तो उसके लिए दीपक के समान आगम क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं कर सकता है अथवा जैसे वही दीपक को रखने वाला पुरुष अपने पुरुषार्थ के बल से खुद पतन से यदि नहीं बचता है तो उसका श्रद्धान दीपक व दृष्टि कुछ भी कार्यकारी नहीं हुई, तैसे ही यह जीव श्रद्धान और ज्ञान सहित भी है, परन्तु दीपक सहित पुरुष के समान चारित्र के बल से राग–द्वेषादि विकल्परूप असंयमभाव से यदि अपने को नहीं हटाता है तो श्रद्धान तथा ज्ञान उसका क्या हित कर सकते हैं अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकते।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि परमागमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान तथा संयमपना इन तीनों में से केवल दो से वा मात्र एक से निर्माण नहीं हो सकता है, किन्तु तीनों से ही मोक्ष होता है। इस तरह भेद और अभेद स्वरूप रत्नत्रयमय मोक्षमार्ग को स्थापन की मुख्यता से दूसरे स्थल से चार गाथायें पूर्ण हुई। यहाँ यह भाव है कि, बहिरात्मा अवस्था, अन्तरात्मा अवस्था, परमात्मा अवस्था या मोक्ष अवस्था ऐसी तीन अवस्थायें

जीव की होती हैं, तीनों अवस्थाओं के अनुरूप होकर द्रव्य रहता है। इस तरह परस्पर अपेक्षा सहित द्रव्यरूप व पर्यायरूप जीव पदार्थ को जानना चाहिये।

अब यहाँ मोक्ष का कारण विचारा जाता है। मिथ्यात्व रागादि रूप जो बहिरात्मा अवस्था है वह तो अशुद्ध है इसलिये मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्षावस्था तो शुद्धात्मा रूप अर्थात् फलरूप है जो आगामी काल में होगी। इन दोनों बहिरात्मा अवस्था और मोक्ष अवस्था से भिन्न जो अन्तरात्मा अवस्था है वह मिथ्यात्व रागादि से रहित होने के कारण से शुद्ध है। जैसे सूक्ष्म निगोदिया जीव के ज्ञान में अन्य ज्ञान का आवरण होने पर भी क्षयोपशम ज्ञान का सर्वथा आवरण नहीं है तैसे इस अन्तरात्मा अवस्था में केवल ज्ञानावरण के होते हुए भी एक देश क्षयोपशम ज्ञान की अपेक्षा आवरण नहीं है। जितने अंश में क्षयोपशम ज्ञान रागादि भावों से रहित होकर उतने अंश में यह मोक्ष का कारण है। इस अवस्था में शुद्ध पारिणामिक–भाव स्वरूप परमात्मा द्रव्य तो ध्येय (ध्यान करने योग्य) है। सो परमात्मा द्रव्य उस अन्तरात्मापने की ध्यान की अवस्था विशेष से कथंचित् भिन्न है। यदि एकान्त से अन्तरात्मावस्था और परमात्मावस्था को अभिन्न या अभेद माना जाएगा तो मोक्ष में भी ध्यान प्राप्त हो जाएगा अथवा इस ध्यान पर्याय विनाश होते हुए पारिणमिक भाव का भी विनाश हो जाएगा सो हो नहीं सकता। इस तरह बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा के कथन रूप से मोक्षमार्ग जानना चाहिये।

समीक्षा– प्रत्येक कार्य योग्य अंतरंग एवं बहिरंग कारणों के सद्भाव से तथा विरोधी कारणों के अभाव से होता है। मोक्ष भी एक कार्य होने के कारण इसमें अंतरंग बहिरंग कारण के सद्भाव एवं विरोधी कारण के अभाव होना चाहिये। अंतरंग कारण सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र की पूर्णता, बहिरंग कारण मनुष्य जन्म, वज्रवृषभ नाराचसंहनन, मोक्ष जाने योग्य काल आदि तथा विरोधी कारण स्वरूपद्रव्य कर्म, भाव–कर्म तथा नो–कर्म का सर्वथा अभाव। इस गाथा में भी यह सिद्ध किया गया है कि केवल आगम ज्ञानी या केवल श्रद्धावान् भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। कर्म के विशेष क्षयोपशम से अभव्य को तथा मिथ्यादृष्टि को भी आगम के ग्यारह अंग नो पूर्व का भी ज्ञान हो सकता है परंतु श्रद्धा से रहित होने के कारण वह ज्ञान अज्ञान है। वीरसेन स्वामी ने धवला में भी कहा है–

"यथार्थ श्रद्धानुविद्धवगमो ज्ञानम् अयथार्थ श्रद्धानुविद्धावगमोऽज्ञानम्।"

यथार्थ श्रद्धा से अनुबिद्ध अवगम को ज्ञान कहते हैं और अयथार्थ श्रद्धा से अनुबिद्ध अवगम को अज्ञान कहते हैं। इसलिये श्रद्धा से रहित आगम ज्ञान अंक से रहित शून्य के समान निष्फल है, मूल्यहीन है, अकार्यकारी है। श्रद्धा होने पर भी यदि संयम नहीं है तो भी जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। जिस प्रकार गंतव्य स्थल का ज्ञान एवं विश्वास होते हुए भी कोई गमन नहीं करता है तब गंतव्य स्थल को प्राप्त नहीं करता है जैसे पंगु देखता हुआ भी लक्ष्य को प्राप्त नहीं करता है इसी प्रकार केवल श्रद्धावान् श्रद्धा करता हुआ भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है श्रद्धा एवं ज्ञान रहित चारित्रवान् आचरण को प्राप्त करता हुआ भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है।

राजवार्तिक में आचार्य अकलंक देव ने रत्नत्रय की एकता से ही मोक्ष होता है ऐसा सयुक्तिक सिद्ध किया है। यथा–

यदि ज्ञानमात्र से ही क्वचिद् अर्थसिद्धि देखी गई हो तो कहो परन्तु ज्ञान मात्र से अर्थ कर सिद्धि दृष्टिगोचर नहीं होती है। अतः मोक्ष मार्ग की कल्पना तीनों से करना ही श्रेष्ठ है। **"अनन्ताः सामायिक सिद्धाः"** वचन भी सम्यग्दर्शनादि तीनों के मोक्षमार्ग का समर्थन करता है क्योंकि ज्ञान स्वभाव आत्मा के तत्त्वश्रद्धान पूर्वक ही सामायिक–समता भाव रूप चारित्र हो सकता है। समय, एकत्व, अभेद ये अनर्थान्तर हैं। समय, समता वा एकत्व वा अभेद ही सामायिक चारित्र है। सामायिक अर्थात् समस्त पाप योगों से निवृत्त होकर अभेद समता और वीतरागता में प्रतिष्ठित होना, यही संग्रह नय से सामायिक चारित्र कहलाता है।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानानिनां क्रिया ।
धावन्किलाधंको दग्धः पश्यत्रपि च पंगुलः ।।6
संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा, न ह्येचक्रेण रथः प्रयाति।
अन्धश्च पङ्गुश्च वने प्रविष्टो, तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टो।।7

कहा भी है क्रियाहीन ज्ञान नष्ट हो जाता है और अज्ञानियों की क्रिया निष्फल होती है। दावानल से व्याप्त वन में जिस प्रकार अन्धा इधर–उधर भाग कर भी जल जाता है, उसी प्रकार लंगडा देखता हुआ भी जल जाता है, क्योंकि एक चक्र से रथ नहीं चल सकता है। अतः ज्ञान और क्रिया का संयोग ही कार्यकारी है। ऐसा विद्वानों का कथन है। एक अन्धा और एक लंगड़ा वन में प्रविष्ट थे। दोनों मिल गये तो नगर में आ गये। यदि अंधा और लंगडा दोनों मिल जायें और अन्धे के कन्धे पर लंगडा बैठ जाये तो दोनों का ही उद्धार हो जाय। लंगडा रास्ता बता कर ज्ञान का कार्य करे, अन्धा पैरों से चलकर चारित्र का कार्य करे तो दोनों का ही उद्धार हो जाये। लंगडा रास्ता बता कर ज्ञान का कार्य करे और अन्धा पैरों से चलकर चारित्र का कार्य करे तो दोनों ही नगर में आ सकते हैं।

- ज्ञानी मनुष्य को संसार लुभा नहीं सकता, मछलियों के कूदने से सागर नहीं उमड़ता। **(भर्तृहरि)**
- ज्ञानी मनुष्य इस जगत को स्वर्ग में परिवर्तित कर सकता है। **(शिवानन्द)**
- इच्छा की तृप्ति नहीं वरन् उसकी उपेक्षा ज्ञान कहलाती है। **(ब्रेरन्त)**
- **ज्ञान शक्ति है, किन्तु नहीं यदि, वह ईश्वर चरणों पर अर्पित,**
  असुर दर्प बन वह विध्वंसक, बन जाता जन भू जीवन हित।
  (सुमित्रानंदन पंत)
- जो जितना हम अध्ययन करते हैं, उतना ही हमको अपने अज्ञान का आभास होता है। **(स्वामी विवेकानंद)**
- कुछ मुझे ज्ञान है वह यही कि मेरे पास रंचमात्र भी ज्ञान नहीं।1
  (सुकरात)

अनुच्छेद-16

भारतीय क्यों अनजान है स्व–प्राचीन ज्ञान–विज्ञान–आध्यात्म से ? !

(कारण–परिणाम–निवारण उपाय)

अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय महापुरुषों के द्वारा शोध–बोध, आविष्कृत एवं प्रयोग किये गये ज्ञान–विज्ञान आध्यात्म के कारण भारत विश्वगुरु रहा। ईसा पूर्व अनेक शताब्दिओं के पहले से ही भारत में नालन्दा विश्वविद्यालय, तक्षशिला विश्वविद्यालय, विक्रमशिला विश्वविद्यालय आदि विश्वविद्यालयों में धर्म, दर्शन, विज्ञान, गणित, व्याकरण, आयुर्वेद, तर्क, भाषा आदि लौकिक एवं आध्यात्मिक 50–60 विषयों का अध्ययन होता था, वहाँ पर देश–विदेशों के 8–10 हजार विद्यार्थियों को 800–1000 योग्य विद्वान शिक्षक अध्ययन कराते थे।

उपर्युक्त विषयों के प्रमाण साक्ष्य उपलब्ध भारतीय प्राचीन धर्म, दर्शन, गणित, आयुर्वेद, विज्ञान, व्याकरण, पुराण, तर्क–न्याय, मीमांसा, स्मृति, संहिता, नीति, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों के साथ–साथ प्राचीन मन्दिर, शिलालेख, स्तूप, स्तम्भ, भवन, हड़प्पा–मोहनजोदडो–आयड़ आदि के अवशेष तथा भाषा, परम्परा, पर्व, भोजन, वस्त्र, रीति–रिवाज, तीर्थयात्रा, पूजा–पाठ इत्यादि से प्राप्त होते हैं। यह सब होते हुए भी चिन्तनिय एवं चिन्ता–पीड़ा का विषय यह है कि आधुनिक वैज्ञानिक, प्रगतिशील, शोध–बोध–खोज, अविष्कारपूर्ण ज्ञानमययुग में भी अधिकांश भारतीय स्व–प्राचीन महान, ज्ञान, विज्ञान ,आध्यात्म, शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता, भाषा, महापुरूष, पुराण, इतिहास, गणित, आयुर्वेद, भोजन, वस्त्र, व्यवहार, परम्परा आदि से केवल अनजान ही नहीं हैं अपरंच उससे विपरीत विश्वास, भाव एवं व्यवहार है। इसके कारण–परिणाम–निवारण के उपाय के बारे में मैंने (आ. कनकनंदी) 1.भारत की अन्तरंग खोज 2.भारत को गारत एवं महान् बनाने के सूत्र आदि पुस्तक एवं अनेक शोधपूर्ण लेख में विस्तार से वर्णन किया है परन्तु इस लघुलेख में संक्षिप्त एवं सरल भाषा में कुछ दिग्दर्शन निम्न में कर रहा हूँ।

(1) भारत की दीर्घकालीन परतंत्रता :– भारतीयों के असंगठन आदि कारणों से भारत दीर्घकाल तक (हजारों वर्ष) गुलाम रहा है। इसके कारण भारत की सभ्यता ,संस्कृति, परम्परा, भाषा, आध्यात्मिकता, मानसिकता आदि में अनेक विकृतियाँ, कमियाँ आईं जिसके कारण भारतीय स्व–सच्चे एवं अच्छे ज्ञान–विज्ञान आदि से वंचित रहे। इसका दुष्परिणाम भी अभी तक भोग रहे हैं।

(2) छोटा एवं खोटा लक्ष्य :– प्राचीन भारतीयों का परम लक्ष्य था–परम सत्य की खोज, आत्मा की उपलब्धि, ज्ञानामृत का सेवन स्व–पर–विश्व कल्याण आदि।

किन्तु अभी अधिकांश व्यक्ति उपर्युक्त महान् लक्ष्य के विपरीत सत्ता, सम्पत्ति, प्रसिद्धि, स्वार्थ, क्षुद्रता, ईर्ष्या, द्वेष, फैशन, व्यसन, दीखावा, संकीर्णता, धर्मान्धता, अहंकार , दीनता आदि से आक्रान्त हैं। ऐसे व्यक्ति प्राचीन भारतीय महान् ज्ञान–विज्ञान–आध्यात्म के योग्य ही नहीं हो सकते हैं।

(3) प्राचीन ग्रन्थ एवं भाषा ज्ञान की दुर्दशा :– भारतीय प्राचीन ज्ञान–विज्ञान आदि के अनेक ग्रन्थ आक्रान्ताओं ने नष्ट कर दिये तो कुछ स्वदेश लूट–पाट–चोरी करके ले गये। जो कुछ ग्रन्थ बच गये उनमें से कुछ दीमक चूहे आदि ने नष्ट कर दिये तो कुछ स्वयं भारतीयों के दोष के कारण नष्ट हो गये तथा कुछ अभी तक अप्रकाशित है और कुछ आधुनिक हिन्दी आदि भाषाओं में अनुवादित नहीं हैं। प्राचीन भारतीय अधिकांश ज्ञान–विज्ञान के ग्रन्थों की भाषा संस्कृत, प्राकृत, पाली आदि है और अभी इन सब भाषाओं के मर्मज्ञ अत्यन्त ही कम हैं। इन सब कारणों से भी प्राचीन भारतीय ज्ञान–विज्ञानादि से अनजान अधिकांश भारतीय हैं। उपर्युक्त कारणों से भी अधिक घातक कारण यह है कि जो सहज उपलब्ध अनुवादित ग्रन्थ हैं उसका भी अध्ययन न शोधपूर्ण दृष्टि से करते है न हि उसका सदुपयोग करते हैं। दीर्घ विदेशी गुलामी के कारण भारतीयों का भाषागत गुलामपना अभी तक गया नहीं अपितु उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है जिससे भारतीय प्राचीन महान् भाषाओं के साथ–साथ राष्ट्र भाषा हिन्दी की भी उपेक्षा हो रही है। अधिकांश साक्षर हिन्दी भाषी भी शुद्ध उच्चस्तरीय हिन्दी न लिख पाते हैं, न पढ़ पाते हैं, न ही बोल पाते हैं और न ही समझ पाते हैं। ऐसी परिस्थिति में प्राचीन भाषाओं में लिखित गहन ग्रन्थों को क्या तो समझेंगे तथा उसका शोध–बोध प्रायोगिकीकरण कहाँ से कर पायेंगे ?। इन सब दुःखद कारणों से भारतीय अनेक धार्मिक, व्याकरण आदि ग्रन्थों के साथ–साथ प्राचीन शिलालेखों का पहले–पहले सम्पादन, अनुवाद, प्रकाशन मैक्समूलर, जैकोवि आदि विदेशी विद्वानों ने किया। अभी भी अनेक विदेशों के विश्वविद्यालयों में संस्कृत, हिन्दी आदि भाषा तथा भारतीय धर्म–दर्शन–ध्यान आयुर्वेद आदि का केवल अध्ययन ही नहीं होता है, अपरंच वैज्ञानिक, विश्वकल्याणकारी दृष्टिकोणों से हो रहा है।

(4) आधुनिक शिक्षा भी उत्तरदायी – आधुनिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य डिग्री प्राप्त करके जीविका निर्वाह करना है न कि जीवन निर्माण से लेकर निर्वाण प्राप्त करना है। इतना ही नहीं अभी तो प्रायः शिक्षा का उद्देश्य जीविका निर्वाह ही नहीं रहा है परन्तु शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षा केन्द्र, शिक्षा संस्थान के कर्मचारी/अधिकारी से लेकर राष्ट्रीय–केन्द्रीय शिक्षा मंत्री तक भ्रष्टाचार, अनैतिक आचार से ग्रसित है। वर्तमान तो मानो शिक्षा का प्रतिफल फैशन, व्यसन, उद्दण्डता, आलस्य, परावलम्बन, आडम्बर, दीखावा, से लेकर अनैतिक–अधार्मिक है। प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक में प्राचीन भारतीय भाषा–ज्ञान–विज्ञान –अध्यात्म का कोई गहन, सूक्ष्म, व्यापक, शोध–बोधपूर्ण अध्ययन नहीं हो रहा है। इतना ही सत्य–तथ्यपूर्ण प्राचीन ज्ञान–विज्ञान के विपरीत, विकृत शिक्षण से लेकर कार्यक्रम –व्यवहार शिक्षा क्षेत्र में हो रहा है। इस दृष्टि से कथंचित् आधुनिक शिक्षा प्राचीन भारतीय महान् ज्ञान–विज्ञान–अध्यात्म के संरक्षक–संवर्धक नहीं है अपरंच विकृतिकारी–विनाशकारी है। स्वतंत्र भारत में भी अभी

तक गुलाम–नौकर बनाने वाली मैकॉले की शिक्षा पद्धति चल रही है जो भारत की संस्कृति के नाशक है। यथा–आधुनिक शिक्षा भी उत्तरदायी।

It was February, 1835 A time when the British were striving to take control of the who
le of India.

Lord Macaulay, a historian and politician made a historical speech in the British Parliament , commonly referred to as the Minute, which struck a blow at the centuries fresh tree of Indian education.

His words were to this effect:

" I have traveled across the length and breadth of India and I have not seen one person who is a beggar, who is a thief . Such wealth I have seen in this country such high moral values, people of such calibre, that I do not think we would ever conquer this country, unless we break the very backbone of this nation, which is her spiritual and cultural heritage, and, therefore, I propose that we replace her old and ancient education system, her culture, for if the Indians think that all is the foreign and the English is good and greater than their own, they will lose their self esteem, their native self culture and they will become what we want them A truly dominated Nation."

Source:

The Awaking Ray, Vol,4 No.5

The Ghostic Centre.

बात फरवरी,1835 की है। यह वह समय था जब अंग्रेज संपूर्ण भारत को अपना गुलाम बनाने के लिए जी–तोड़ प्रयास कर रहे थे, तब लार्ड मैकॉले, जो इतिहासकार के साथ–साथ कुटिल राजनीतिज्ञ भी था,ने ब्रिटिश पार्लियामेंट में ऐतिहासिक भाषण दिया था, इसे कार्यवृत्त के रूप में सार्वजनिक किया गया। यह ऐसा भाषण था, जिसने सदियों से हरे–भरे भारतीय शिक्षा के वृक्ष पर भीषण कुठाराघात किया।

मैकाले के शब्द थे.....

"मैनें भारत के कोने–कोने की यात्रा की है और मुझे एक भी ऐसा व्यक्ति दिखाई नहीं दिया, जो भिखारी हो या चोर हो, मैंने इस देश में ऐसी संपन्नता देखी, ऐसे ऊँचे–नैतिक मूल्य देखे, ऐसे योग्य व्यक्ति देखे, कि मुझे नहीं लगता कि जब तक हम इस देश की रीढ़ की हड्डी न तोड़ दें, तब तक हम इस देश को जीत पाएँगे और यह रीढ़ की हड्डी है–इसकी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत। इसके लिए मेरा सुझाव है कि हमें इस देश की प्राचीन शिक्षा व्यवस्था को, इसकी संस्कृति को बदल देना चाहिए। यदि भारतीय यह सोचने लगें कि वह हर वस्तु जो विदेशी और अंग्रेजी

है, उनकी अपनी वस्तु से अधिक श्रेष्ठ और महान् है तो उनका आत्म –गौरव, उनके मूल संस्कार नष्ट हो जाएँगे और वे तब वैसे बन जाएँगे जैसा हम उन्हें बनाना चाहते हैं– एक सच्चा गुलाम राष्ट्र"।

(5)धार्मिक कट्टरता–अनुदारता –भले प्रत्येक धर्मावलम्बी स्व–स्व धर्म को सच्चा–अच्छा, ईश्वरीय, शान्तिदाता मानते हैं, मनवाते हैं परन्तु प्रायः वे सच्चे ज्ञान–विज्ञानं –आध्यात्मिकता से रहित कट्टर, अनुदार, असहिष्णु होते हैं। वे स्वयं के छोटे एवं खोटे भाव एवं व्यवहार को नहीं छोड़ते हैं परन्तु दुसरों के सच्चे एवं अच्छे भाव तथा व्यवहार को ग्रहण के बदले में उन्हें विकृत से लेकर विनाश करते हैं। प्रथमतः विदेशी आक्रान्ताओं ने तो स्व–स्व धर्म प्रचार के लिए भारतीय मन्दिर, मूर्ति–शास्त्र, धर्मावलम्बियों को परिवर्तित किया, विनाश किया द्वितीयतः उसी प्रकार भारत के मूल धर्मावलम्बियों ने भी कमोवेशी उपर्युक्त कुकृत्य परस्पर में किया है और अभी भी उपर्युक्त देशी–विदेशी कट्टर धार्मिकों के कुकृत्य जारी है। इस कुकृत्यों से भी भारतीय महान् ज्ञान–विज्ञान–आध्यात्म–संस्कृति–सभ्यता–भाषा–मन्दिर–मूर्ति आदि को अपूरणीय क्षति हुई और अभी तक भी जाती हैं।

(6)अन्धानुकरण की प्रवृत्ति– भारत के लोग भी भारत की प्राचीन महान् संस्कृति आदि को न जानते–मानते अपनाते हैं परन्तु उससे विपरीत नेता, अभिनेता, खिलाड़ी से लेकर पाश्चात्यों का अकल के बिना नकल करते हैं। पाश्चात्य की सच्चाई, अच्छाई, प्रामाणिकता,राष्ट्रभक्ति, श्रमशीलता, स्वच्छता, शोध– प्रवृत्ति, सत्य–तथ्य को स्वीकार करने की उत्कंठा आदि को तो स्वीकार नहीं करते हैं परन्तु उनकी यूज एण्ड थ्रो (विसर्जित चीज/जूठन/नकलचीपना) को चाव से उत्कंठा पूर्वक ग्रहण करते हैं। भले पाश्चात्य के लोग भारतीय ज्ञान–विज्ञान–योग–ध्यान आदि को स्वीकार करने के बाद भारतीय लोग उसका भी अनुकरण या अन्धानुकरण करेंगे परन्तु स्वेच्छा से उदारवादी दृष्टिकोण से शोध–बोध पद्धति से भारतीय संस्कृति आदि को कम स्वीकारते हैं।

(7)भौतिक एवं वैज्ञानिकता–

वर्तमान काल में भौतिकता एवं अपूर्ण वैज्ञानिकता को अनावश्यक अतिमहत्व देकर उसके शिक्षण, ज्ञान, अर्जन, संग्रह, संवर्धन, संरक्षण में प्रायः देश–विदेश के अधिकांश लोग पगलापन के हद तक सतत् लगे हुए हैं। अतएव आध्यात्मिकमय भारतीय ज्ञान–विज्ञान को भी उस भौतिक एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य उद्देश्य आदि दृष्टिकोण से शिक्षण, अर्जन, उपयोग करने की लालसा के कारण भारतीय ज्ञान–विज्ञान का वास्तविक स्वरूप न जान पाते हैं, न मान पाते हैं, न आचरण कर पाते हैं। परिणाम–उपर्युक्त कारणों से स्व–पर विश्वकल्याणकारी सर्वोदयी भारतीय ज्ञान–विज्ञान–आध्यात्म की कमी तथा विकृति के कारण भारत गुलाम, गरीब, दुर्बल, अल्पज्ञ तो हुआ ही है। इस कारण से जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में मन्दता होने पर दीपक का प्रकाश दूर तक कम फैलता है, प्रभाव कम पड़ता है उस प्रकार भारत से ज्ञान–विज्ञान का प्रकाश विदेश में भी कम फैला। इससे मानसिक–आध्यात्मिक

सुख–शान्ति में ह्रास हुआ भले अभी भौतिकता एवं वैज्ञानिक उपकरण बढ़े हैं। निवारण– उपाय–जिस प्रकार जीवन के लिए वाहन, गृह, भोजन, पानी, आदि से भी प्राणवायु की आवश्यकता अत्यधिक है उसी प्रकार सुख–शान्तिमय जीवन के लिए तथा सर्वांगीण विकास के लिए प्राचीन भारतीय ज्ञान–विज्ञान–आध्यात्म की अत्यधिक आवश्यकता है। केवल भौतिकता की प्रचुरता से एवं वैज्ञानिक उपलब्धियों से भी जब मानसिक–आध्यात्मिक सुख–शान्ति की प्राप्ति तो दूर रह किन्तु शारीरिक, पारिवारिक से लेकर राष्ट्रीय–वैश्वीक सुख–शान्ति की प्राप्ति नहीं हो पा रही है तो अनेक देश–विदेश के सुखेच्छु–विवेकी जन भारतीय ज्ञान–विज्ञान–संस्कृति की ओर आकर्षित हो रहे हैं। इसके साथ–साथ विज्ञान के उत्तरोत्तर विकास से भारतीय ज्ञान–विज्ञानादि श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, उपादेय, सत्य–तथ्य पूर्ण सिद्ध होते जा रहे हैं जिससे देश–विदेश के अनेक प्रबुद्ध वर्ग स्वेच्छा से भारतीय ज्ञान–विज्ञान को स्वीकार करते जा रहे हैं। अतएव भारतीयों में भी सत्य–तथ्यपूर्ण विश्वकल्याणकारी विज्ञान का विकास, सदुपयोग के साथ–साथ ऊपर लिखित दोषों से रहित होना चाहिए। विशेषतः भारतीय साधु–संत, विद्वान्, धार्मिकजन, भारतीय संस्कृति प्रेमीयों को भारतीय ज्ञान–विज्ञान–अध्यात्म को केवल वित्तेष्णा (धनलोलुपता), लोकेषणा (प्रसिद्धि, भीड़ जोड़ना) के मापदण्ड में न मापकर सत्य–तथ्य के मापदण्ड से मापकर स्व–पर विश्वकल्याण के लिए सदुपयोग करना चाहिए। संक्षिप्ततः कवियों की दृष्टि से –

आर्य संस्कृति की यही पहचान।
जीवन में हो ज्योति, मरने पर निर्वाण।।
कला बहत्तर नरन की, यामें दो सरदार।
एक जीव की जीविका, दूजी जीव उद्धार।।

- किसी व्यक्ति में कितना ज्ञान है, इसका पता इस बात से लगता है कि उनका मन विषयों में कितना अटका हुआ है या उनसे मुड़ा हुआ है। **(तुलसीदास)**
- उस विषय में अज्ञानी रहो, यह ज्यादा बेहतर है बजाय अधूरा ज्ञान प्राप्त करने के। **(साइरस)**
- अज्ञान प्रकाश को जाग्रत नहीं कर सकता, लेकिन घृणा तो ज्ञान के प्रकाश को भी बुझा देती है। **(रविन्द्रनाथ ठाकुर)**
- अज्ञानी के लिए मौन से श्रेष्ठ कुछ नहीं और यदि युक्ति वह समझ ले तो अज्ञानी न रहे। **(शेख सादी)**
- अपने अज्ञान का आभास होना ही ज्ञान की ओर एक बढ़ा कदम है। **(डिजरायली)**

अनुच्छेद-15

आधुनिक साक्षर मूढ़

भारत प्राचीन काल से ज्ञान–विज्ञान–आध्यात्मिक–गणित आदि 72 कला (शिक्षा/विद्या/विज्ञान) के शोध–बोध–प्रयोग के कारण विश्वगुरु रहा है। किन्तु अभी प्रगतिशील वैज्ञानिक युग में भारत के स्वतंत्रता के 61 वर्षों के बाद भी भारत उस प्राचीन गौरवशाली उच्चता को प्राप्त करना तो अतिदूर है ही परन्तु उस महानता से और भी जानबूझकर दूर भागता जा रहा है। जे.एस. राजपूत (पूर्व निर्देशक एनसीईआरटी) का एक लेख "इक्कीसवीं सदी के अनपढ़" साक्षरता दिवस पर विशेष रूप में प्रकाशित हुआ है। इस लेख के प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा है–

"साक्षरता दिवस के अवसर पर मुझे प्रख्यात चिन्तक एलविन टॉफलर का कथन प्रासंगिक लगता है– 'इक्कीसवीं शताब्दी के अनपढ़' वे लोग होंगे जो लिखना पढ़ना जानते हैं लेकिन यह नहीं जानते कि नया कैसे सीखें, अनावश्यक कैसे भुलाएं, पुनः नया कैसे सीखें।"

मेरे (आ. कनकनन्दी) शिक्षा सम्बन्धी– (1) सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान (2) शिक्षा–संस्कृति–नारी गरिमा (3) संस्कार आदि अनेक साहित्य एवं लेख अनेक भाषा में प्रकाशित हुए हैं तथापि इस लघु लेख में पुनः कुछ कटु सत्य लिख रहा हूँ जिससे विश्व मानव तथा विशेषतः भारतीय लाभान्वित हों।

(1) अनुत्पादक तोता रटन्त शिक्षा– जिस भारतीय शिक्षा/विद्या का उद्देश्य सर्वोदय था तथा आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा भी उस ओर बढ़ रही है, ऐसी परिस्थिति में भी भारतीय शिक्षा अनुत्पादक तोता रटन्त हो रही है। अभी शिक्षा का उद्देश्य कोर्स की पुस्तकों की जैसी–तैसी रीडिंग करके परीक्षा के लिए कुछ प्रश्नों के उत्तर रटकर परीक्षा देकर पास करना, डिग्री प्राप्त करके नौकर बनना, फैशनी–व्यसनी–उद्दण्डी, आलसी, दम्भी, शोषणकारी, स्वार्थी, आडम्बरी, नट–नटी (हीरो–हीरोईन) खिलाड़ी पाश्चात्य का अन्धभक्त बनकर उनका पिछलग्गु बनना है। इसलिए साक्षरी कृषि, शिल्प, व्यापार, स्वकार्य, गृहकार्य नहीं कर पाने के कारण बेकारी, तनाव, उपेक्षा, अनादर, गरीबी, उदासीनता, कुढ़न, टूटन, बिखराव, चोरी, बदमाशी, आतंकवाद, क्रूरता, कलह, गृह से पलायन, कर्त्तव्य से पलायन, हत्या से लेकर आत्महत्या तक के शिकार हो जाते हैं।

(2) सीखने की अरुचि तथा अप्रवृत्ति– उपर्युक्त खोटा एवं छोटा उद्देश्य व प्रवृत्ति के कारण विद्यालयीन शिक्षा की अवधि में ही शिक्षार्थी एवं शिक्षक में सीखने के प्रति अरुचि होती है जिससे वे शिक्षण अवधि (कोर्स से अन्य विषय या पढ़ाई छोड़ने के बाद) के अतिरिक्त कुछ भी अध्ययन या सीखने के लिए उत्साहित, प्रेरित नहीं होते हैं। जैसा कि जिसको जिससे पीड़ा–ग्लानि–ईर्ष्या–क्षति आदि हुई हो तो वह उससे दूर रहता है उसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी घटित होता है। यह प्रवृत्ति मैंने हजारों लाखों में पाया है। मेरा अनुभव है कि जो जैसे–तैसे भी पढ़ाई करके व्यवसाय, नौकर या शिक्षक

तक बन जाते हैं वे भी उपर्युक्त दोषों से युक्त रहते हैं। प्राचीन भारत के महापुरुष तथा वर्तमान के विदेश के विद्वान्–वैज्ञानिक जीवन भर सतत सीखते रहते हैं और प्रगति करते हैं जो स्वयं को अल्पज्ञ एवं अपूर्ण मानते हैं परन्तु इससे विपरीत वे साक्षर मूढ़ होते हैं जो स्वयं को महाज्ञानी–सर्वज्ञ तथा सम्पूर्ण मानते हैं।

(3) अनावश्यक में प्रवृत्ति– "खाली दिमाग शैतान का घर" की नीति के अनुसार जो सीखने में रुचि नहीं रखते हैं तो वे अनावश्यक या गलत कार्य में अवश्य ही प्रवृत्त होंगे। सच्चे एवं अच्छे भाव तथा व्यवहार से रहित साक्षर लोग तन–मन–शिक्षा–समय–श्रम का दुरुपयोग करते हैं। इसलिए रचनात्मकता से वंचित होते हैं। वर्तमान में अधिकांश साक्षर फैशन–व्यसन–प्रमाद–गप्पबाजी, दिखावा, प्रतिस्पर्धा रूपी अनावश्यक कार्य से लेकर अश्लील–बलात्कार–चोरी, आतंकवाद से लेकर हत्या–आत्महत्या में संलग्न होकर साक्षर के विपरीत राक्षस स्वरूप को चरितार्थ कर रहे हैं। वर्तमान में देश–विदेश में अधिकांश कुकृत्य निरक्षरों से भी अधिक साक्षरों के द्वारा हो रहा है। इन सब प्रायोगिक कुकृत्य साक्षरों के राक्षसपना को स्पष्ट उद्घोषित करते हैं। अतः ऐसे साक्षात् प्रमाण होते हुए साक्षरों की दुष्टता को सिद्ध करने के लिए अन्य साक्ष्य की आवश्यकता नहीं है।

(4) प्रगतिशीलता के बिना नकल– शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है स्व–आन्तरिक शक्तियों का विकास करते हुए सर्वोदयी, स्वावलम्बी, विवेकी, आदर्श, स्व–पर–विश्वकल्याणकारी सादा जीवन उच्च विचारवान् बनना है। परन्तु अधिकांश साक्षरी अकल के बिना नकलची होते हैं। वे हित–अहित विवेक के बिना केवल आधुनिकता–प्रगतिशीलता–श्रेष्ठता–ज्येष्ठता–वर्चस्व के थोथा प्रदर्शन, प्रतिस्पर्धा के लिए दूसरों के वेश–भूषा, खान–पान, भाषा–बोली, रहन–सहन का अन्धानुकरण करते हैं। जैसा कि कट्टर–संकीर्ण–धर्मान्ध व्यक्ति केवल बाह्य क्रिया–काण्डों को ही पालन करके स्वयं को अन्य सच्चे–अच्छे, सरल, सहज धार्मिकों से भी श्रेष्ठ–ज्येष्ठ मानकर अहंकार करते हैं। साक्षर भारतीय बालिकायें तथा महिलायें कोमलता–वात्सल्य–सौहार्द्र–सेवा–ममता रूपी स्त्रीत्व को तो साक्षर बालक, युवक, प्रौढ़ आदि पुरुषार्थ रूपी पुरुषत्व को त्याग करके संकर (मिलावट, अकर्मण्य, कुकर्म) जीवन ढ़ो रहे हैं।

शिक्षा सम्बन्धी महात्मा गाँधी के विचार–

मेरा दृढ़ विश्वास है कि हमारे कॉलेजों में जो कला की शिक्षा दी जाती है, वह बिल्कुल फिजूल है और उससे शिक्षितों में बेकारी फैलने के अलावा और कुछ भी नहीं होता।

उच्च शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा होने से राष्ट्र की कितनी ही बौद्धिक और नैतिक हानियाँ होती हैं।

मैं कालेजों की शिक्षा को राष्ट्र की आवश्यकता के अनुकूल बनाना चाहता हूँ। – (गाँधी जी की सूक्तियाँ)

मैं उच्च शिक्षा का दुश्मन नहीं हूँ, पर जिस प्रकार की शिक्षा इस देश में दी जाती है, उसके मैं कतई खिलाफ हूँ।

मैंने देखा है कि उच्च शिक्षा बहुत से मनुष्यों को बहका और भटका देती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उच्च शिक्षा होनी ही नहीं चाहिए।

मैं उच्च शिक्षा उसी को कहूँगा जिसे पाकर मनुष्य विनम्र, परोपकारी, सेवाभावी और कार्यतत्पर बन जाए।

शिक्षा मात्र आत्मोन्नति के लिए होती है।

हर देश की पूरी शिक्षा उसे तरक्की की तरफ ले जाने वाली होनी चाहिए।

किसी भी काम में पूर्ण बनने के लिए लगातार अभ्यास की जरूरत है–शिक्षा में भी।

शिक्षा एक योग है।

ग्राम–स्वराज के लिए बुनियादी अन्तिम शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए।

बालिग मताधिकार के साथ–साथ व्यापक शिक्षा का होना जरूरी है। अंग्रेजी शिक्षा ने हमारे मस्तिष्क को भूखों मार दिया है और इसके जरिये हम कभी वीर नागरिकता के लिए तैयार नहीं हो सके।

शिक्षा–संस्थाओं का ध्येय 'सा विद्या या विमुक्तये' (विद्या वही है जो विमुक्त करे) होना चाहिए।

शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से ही सर्वोत्तम ढंग से हो सकती है।

जिस शिक्षा या विद्या से त्रिविध–आर्थिक, सामाजिक और आध्यात्मिक–मुक्ति मिलती है, वही वास्तविक शिक्षा या विद्या है।

ज्ञान चारित्र के लिए दिया जाना चाहिए। ज्ञान साधन है, चारित्र साध्य।

शिक्षा का विषय है चारित्र गढ़ना।

शिक्षा का उद्देश्य है विद्यार्थी को मनुष्य बनाना।

संगीत के बिना तो सारी शिक्षा अधूरी लगती है।

मैं हरेक बालक को अक्षरकला सिखलाने से पहले चित्रकला सिखलाने का लोभ रखता हूँ।

बालकों की शिक्षा स्वाश्रयी और सस्ती बनाई जा सकती है।

शिक्षा का असली मुद्दा कोई न कोई ग्रामोद्योग है जिसके द्वारा बच्चे का पूरा–पूरा विकास किया जा सकता है।

अच्छा शिक्षक अंक गणित जैसी वस्तु को भी मनोरंजक बना सकता है।

शिक्षक कभी भी विद्यार्थी को शारीरिक दण्ड न दे।

विद्यार्थियों के साथ तन्मय होकर ही उन्हें उत्तम शिक्षा दी जा सकती है।

शिक्षा के बिना मानव–मस्तिष्क का विकास हो ही नहीं सकता।

आजादी के चालीस साल बाद मैं नौजवानों को तालीम हासिल करने के लिए विदेश भेजने की सलाह दूंगा।

मैं फिर कहूँगा कि कच्ची उम्र के विद्यार्थियों को शिक्षा के लिए विदेश नहीं भेजना चाहिए।

सत्रह साल का लड़का विलायत जाकर वहाँ घबरा जाता है। यह मैं अपने ऊपर से अनुभव करके कह रहा हूँ।

शिक्षा ऊँचा गुण है, पर चरित्र से ऊँचा नहीं।

स्वाध्याय के बिना विचारों को स्फूर्ति नहीं मिलती।

स्वाध्याय के द्वारा मनुष्य घर बैठे विद्यापीठ को अपने पास बुला लेता है।

स्वाध्याय से बढ़कर सज्जनों के लिए कोई अच्छी आदत नहीं हो सकती।

स्वाध्याय विचारशीलता की नींव है।

स्वाध्याय शिक्षितों की सर्वश्रेष्ठ आदत है।

स्वाध्याय के बिना मानसिक विकास नहीं हो सकता है।

संसार में बहुत से बड़े आदमी स्वाध्याय के बल पर ही ऊंचे चढ़े हैं– स्कूल–कॉलेज की पढ़ाई तो निमित्त–मात्र है।

स्वाध्याय ज्ञान–संचय और आत्मविकास का सर्वोत्तम साधन है।

स्वाध्याय ज्ञान–सम्पादन की कुंजी है।

विद्यार्थी भविष्य की आशा है।

विद्यार्थियों को दलबन्दी वाली राजनीति में कभी भाग नहीं लेना चाहिए।

विद्यार्थी राजनीतिक हड़तालें न करें।

विद्यार्थी अपने अन्दर सेवा–भाव विकसित करें।

विद्यार्थी खादी का ही इस्तेमाल करें।

अपने पड़ोसियों के दुःख–दर्द में विद्यार्थी पहले शामिल हों।

विद्यार्थी जो कुछ पढ़ें या सीखें, उसका सार गाँव वालों को समझाना अपना कर्त्तव्य समझें।

विद्यार्थी कोई काम लुक–छिपकर न करें।

विद्यार्थी अपने साथ पढ़ने वाली बहनों के साथ सभ्यता, शिष्टाचार, और शालीनता का व्यवहार करें।

विद्यार्थी यदि अपनी छुट्टी के दिनों में देहातों में जाकर लोक–सेवा करें, तो उनके लिए इससे अच्छी और कोई बात नहीं होगी।

विद्यार्थी अपनी प्राचीन परम्परा के अनुसार ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन करते हुए विद्याध्ययन करें।

मौज–शौक से पैसे बहाते हुए विद्यार्थी अपने माँ–बाप का भी नुकसान करते हैं और अपना भी।

विद्यार्थी भोग–विलास में पड़े कि उनका विद्यार्थी–जीवन समाप्त हुआ।

विद्यार्थी जीवन में पान, सिगरेट या शराब की आदत डालना आत्मघात के समान है।

विद्यार्थी बड़ों के आदेश से ही कोई काम करें, नहीं तो अनुभवहीनता के कारण हानि उठाएंगे।

विद्यार्थी किसी न किसी महान् व्यक्ति को अपने जीवन का आदर्श बनाएँ।

विद्यार्थी खादी पहनें और स्वदेशी वस्तु का व्यवहार करें।

विद्यार्थी अपने किसी भी पड़ोसी की निःसंकोच सेवा करने के लिए तैयार रहें।

विद्यार्थी को तो आलस्य छू ही नहीं जाना चाहिए।

जिस नई बात या ज्ञान का पता विद्यार्थियों को चले, उसे अपनी मातृभाषा में लिख लें और भविष्य में यथासमय और यथावसर उसका उपयोग करें।

मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि शिक्षा की वर्तमान प्रणाली दोषपूर्ण ही नहीं, हानिकारक भी है। अधिकांश बालक अपने माता पिता तथा पैतृक व्यवसाय का त्याग कर देते हैं। वे जो कुछ सीखते हैं, उसे शिक्षा के अतिरिक्त कुछ भी कह सकते हैं।

डॉ. कलाम (राष्ट्रपति)

- एक अच्छी पुस्तक आने वाली पीढियों के लिए मार्गदर्शक के समान होती है।
- अच्छी नागरिकता के तीन आधार होते हैं :– संस्कार युक्त शिक्षा, आध्यात्मिकता और विकासशीलता।
- प्रश्न करते रहिए और उनके उत्तर खोजते रहिए समय आने पर उत्तर मिलेंगे ही और समस्याओं का समाधान भी होगा।
- शिक्षा एक अंतहीन यात्रा के समान है जो जीवनपर्यन्त साथ चलती है।
- बच्चों के मुँह पर मुस्कान सदैव बनी रहे, हमें ऐसी शिक्षा–प्रणाली लानी होगी।
- सूझबूझ और मौलिकता से ही सरस्वती, लक्ष्मी का रूप ले पाती है।
- शिक्षा कल्पना को जन्म देती है, कल्पना विचारों को, और विचारों द्वारा ही व्यक्ति श्रेष्ठ बनता है। शिक्षा और कर्म के संगम से ही ऐश्वर्य प्राप्त होता है।
- कर्महीन ज्ञान बेकार और अनुपयोगी है ज्ञान और कर्म के तालमेल से ही समृद्धि आती है।
- शिक्षा का चरम लक्ष्य यही है कि विद्यार्थी यह सोचने लगे मैं समाज और देश के लिए क्या कर सकता हूँ।
- शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण अंग है विद्यार्थियों में आत्म–विश्वास की भावना पैदा करना।
- बचपन में दी गई शिक्षा, संस्कार और नैतिकता किसी कॉलेज और युनिवर्सिटी में मिली औपचारिक शिक्षा से कहीं अधिक महत्वपूर्ण होती है।
- समाज के हर क्षेत्र में नेकयीयती और सच्चरित्रता से ही विकास हो पाता है।
- विज्ञान और अध्यात्म दोनों का एक ही उद्देश्य है– जनमानस का कल्याण।
- शिक्षक को स्वयं भी जीवन भर कुछ नया पढ़ते, कुछ नया सीखते रहना है।
- विद्यार्थी आजीवन विद्यार्थी बना रहे और अपने आप निरन्तर कुछ नया सीखने का प्रयत्न करे– यही शिक्षक का मुख्य कार्य है।
- युवा मन में प्रकाश की किरण जलाना ही शिक्षक का उद्देश्य है।
- विज्ञान और टेक्नोलॉजी– इन दोनों को भी अंततः अध्यात्म का आधार चाहिए ही।
- ज्ञान–प्राप्ति के लिए चिंतन–मनन और कल्पना की स्वतंत्रता ज़रूरी है।
- आज के विज्ञान में हमें और नवीनता, दूरदृष्टि और कल्पनाशीलता लानी है।
- शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य ऐसे विद्यार्थी तैयार करना होना चाहिए, जो स्वयं अपनी आगे की राह चुन सकें और उस पर आगे बढ़ सकें।
- आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दृष्टि से प्रबुद्ध नेतृत्व ही प्रगति का मूल मंत्र है।
- विज्ञान और विज्ञान की खोजों की कोई सीमा नहीं होती।
- चाहे मेरा अनुभव एक नन्हे बिन्दु के समान ही क्यों न हो, लेकिन इस बिन्दु में जीवन है, प्रकाश है।

अनुच्छेद-16

विज्ञान में भी है अज्ञानता एवं संकीर्णता

प्रकृति के व्यवस्थित, क्रमबद्ध निरीक्षण, परिक्षण, शोध-बोध, अविष्कार को विज्ञान कहते हैं। वैज्ञानिकों के पुरुषार्थ, सत्यनिष्ठा, लगनशीलता, धार्मिक पक्षपात से रहितपना आदि के कारण प्रायः 400 वर्षों में जो आधुनिक विज्ञान ने विकास किया है वह बहुत उल्लेखनीय है। प्रकृति के रहस्यों के उद्घाटन से उसके उपयोग करने के विभिन्न उपाय/उपकरणों का निर्माण हुआ हैं, हो रहा है और होगा भी। विज्ञान का क्षेत्र केवल पहले से भी अधिक विस्तृत नहीं हुआ है परंतु पहले के नियम/सूत्र/उपकरण विस्तृत के साथ-साथ सूक्ष्म/शुद्ध/परिमार्जित/परिवर्धित भी हुआ है। इतना ही नहीं, महान् वैज्ञानिक आईन्स्टीन के सापेक्ष सिद्धान्त, तथा नीलवोर्न आदि वैज्ञानिकों के "The theory of every thing" "Unified theory" आदि के कारण आधुनिक विज्ञान पूर्ववर्ती विज्ञान से नवीन रूप धारण करता जा रहा है। इसके कारण आधुनिक विज्ञान स्थूल-भौतिकता से सूक्ष्म-भौतिकता, स्थूल-शरीर से जीनोम, 3 आयाम से 4 आयाम, होते हुए बहु आयाम, पृथ्वी गृह के जीव सत्ता से होते हुए ब्रह्माण्ड के अन्य अनेक ग्रहों में जीव की सत्ता की स्वीकार्यता, चेतन मन से होते हुए अचेतन, अवचेतन से सुपर चेतन-पराचेतन तक पहुँचने की कोशिश हो रही है। इन सब अच्छाइयों, उपलब्धियों के साथ-साथ विज्ञान में कुछ कमियाँ/अज्ञता एवं संकीर्णता हैं जिसके कारण विज्ञान की गति एवं सीमा में अपेक्षित तीव्रता तथा विस्तृतता नहीं आ पा रही है। स्पष्टता से कहें तो विज्ञान की भौतिक निष्ठा तथा इंद्रिय एवं यंत्रों की प्रामाणिकता की स्वीकार्यता ही विज्ञान की गति एवं सीमा के विस्तृत होने में बाधक हैं। विज्ञान इन कमियों को भौतिकता से, दार्शनिकता से होते हुए आध्यात्मिकता की स्वीकार्यता से दूर कर सकता है। क्योंकि -

विज्ञानं भौतिक ज्ञानं दर्शनं तत्त्व निर्णयः।
धर्मः आत्मोन्नतेमार्गः उत्तरोत्तर महान् ॥ आ. कनकनंदी

भौतिक ज्ञान को विज्ञान कहते हैं, तत्त्व निर्णय को दर्शन कहते हैं, जिस मार्ग पर चलने से आत्मिक उन्नति, शांति मिलती है, उसको धर्म कहते हैं। विज्ञान से दर्शन एवं दर्शन से धर्म श्रेष्ठ है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी कहा है -

Science is blind without religion and religion is lame without science.

धर्म से रहित विज्ञान अंधा है तथा विज्ञान से रहित धर्म पंगु है।

विज्ञानं सभ्यता दातृ, दर्शनं संस्कृतिः प्रदम्।

धर्मः शान्ति प्रदातास्यादुत्तरोत्तरतो महान् ॥ आ. कनकनंदी

विज्ञान सभ्यता का दाता है, दर्शन संस्कृति को देता है। धर्म शांन्ति प्रदाता है। तीनों उत्तरोत्तर महान् है।

समाप्तिं यत्र विज्ञानं दृष्टिः प्रारंभ्यते ततः।
दर्शनस्य कलं धर्मः, सर्व धर्म प्रतिष्ठितम्॥ आ. कनकनंदी

जहाँ विज्ञान समाप्त होता है, वहाँ से दर्शन प्रारम्भ होता है, दर्शन का फल धर्म है, सर्व धर्म के आधार पर आधारित है। विज्ञान का क्षेत्र इंद्रिय, यंत्र तथा भौतिक होने से विज्ञान का परिसर सीमित है। दर्शन का विषय मानसिक, भौतिक-अभौतिक होने से इसका परिसर विज्ञान से भी अधिक है। धर्म का विषय आध्यात्मिक, भौतिक-अभौतिक, इहलोक-परलोक, सार्वदेशिक-सार्वकालिक एवं सार्वभौम होने से इसका क्षेत्र आकाश के समान सर्वव्यापी है।

Where science is lost, then Philosophy is start, where Philosophy is lost, then Religion is start.

जहाँ विज्ञान की सीमा समाप्त होती है, वहाँ दर्शन प्रारम्भ होता है, जहाँ दर्शन समाप्त होता है, वहाँ धर्म प्रारंभ होता है।

आहारेण समं ज्ञानं, दर्शनं स्याज्जलोपम् ।
धर्मः प्राणाश्च वायुश्च, त्रीणि तत्त्वानि जीवितुम्॥ आ. कनकनंदी

विज्ञान आहार के सदृश है, दर्शन पानी के सदृश है, सद्धर्म प्राणवायु के सदृश है। तीनों जीवन यापन के तत्त्व हैं।

परम सत्य की प्राप्ति के उपाय :-

उदयति न नय श्रीरस्तमेति प्रमाणं, क्वचिदपि च न विद्मो यति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥

समयसार कलश

जहाँ पर पूर्ण सत्य (परम ब्रह्म आत्मा) का साक्षात्कार होता है या जहाँ पर पूर्ण सत्य है, वहाँ पर नय श्री (आंशिक सत्य) का उदय नहीं होता है, प्रमाण अस्तगत (विकल्प शून्य) हो जाता है। निक्षेप समूह का असद्भाव हो जाता है। अधिक क्या वहाँ पर केवल एक अद्वैज सत्य ही प्रकाशमान रहता है, द्वैतभाव विलीन हो जाता है। अर्थात् पूर्ण सत्य स्वयंसिद्ध, स्व प्रतिष्ठित, स्वावलम्बी, स्वतंत्र, पर निरपेक्ष एवं तर्क के अगोचर है। उपनिषद में भी कहा है - "यस्मात् निवर्तते वचनं मनसा सह" उस सत्य का प्रतिपादन वचनातीत है। यहाँ तक कि क्षुद्र शक्तिधारी मन का भी प्रवेश सत्य में नहीं हो सकता है। केवल सत्य का साक्षात्कार अनुभव के माध्यम से होता है। आधुनिक वैज्ञानिक आईन्स्टीन ने भी कहा है-

Einstein says, "We can only know the relative truth, the real truth is known only to the universal observer."

हम लोग केवल सापेक्ष सत्य को जान सकते हैं, परंतु सम्पूर्ण सत्य को केवल विश्वदर्शी ही जान सकते हैं। सर्वदर्शी आइन्स्टीन की अपेक्षा निम्नोक्त जीव ही हो सकता है।

Universal observer of Einstein is none else but the Almighty (Sarvjna Deva) with infinite Powers of Knowledge and bliss. (Cosmology - old & new)

"जो सर्वशक्तिमान अनंतज्ञान-शक्ति एवं सुख सम्पन्न, वही सर्वदर्शी-सर्वज्ञ है।"

केन्द्राकर्षण शक्ति के आविष्कारक महान् वैज्ञानिक न्यूटन ने अपना उद्गार जगत् के सन्मुख निम्न प्रकार रखा था- "हम लोग ज्ञानरूपी समुद्र से अमूल्य रत्नादि प्राप्त नहीं कर पाये हैं, परंतु केवल कौडी-सीप प्राप्त किये हैं।" इनका उद्गार कितना मार्मिक है। स्वयं वैज्ञानिक होकर भी अपने ज्ञान को अत्यन्त तुच्छ मानते हैं एवं मानना भी यथार्थ है, क्योंकि ज्ञान अथाह, अनन्त सागर के समान है। वैज्ञानिकों का ज्ञान, ज्ञानरूपी सिंधु के सामने एक बिंदु प्रमाण है।

"We are beginning to oppreciate better, & more thorughly, how great is the range of our ignorance."

(The world is Modern Science by Leopold Infeld P. 60)

"हम लोग, हमारे अज्ञान का फैलाव कितना बडा है, यह और अच्छी तरह से समझने और महसूस करने लगे हैं।"

"Science should leave off making Pronouncement, the rivir of knowledge has too often turned back on itself

(The mysterious universal. P. 138)

सर जेम्स लिखते हैं - शायद यह अच्छा हो कि विज्ञान नित नयी घोषणा करना छोड दे, क्योंकि ज्ञान की नदी बहुत बार अपने आदि श्रोत की ओर बह चुकी है।

The outstanding achievement of twentieth century Physics is not the theory of relativity with its wielding together of space and time or the theory of quantum with its present apparent negation of the laws of caustion or the dissection of the atom. With the resultant discovery that things

are not what they seem. It is resultant discovery that things are not what they seem. It is the general recognition that we are not yet in contact with ultimae reality.

एक दूसरी जगह वे लिखते हैं - "बीसवीं सदी का महान् आविष्कार सापेक्षवाद या क्वान्टम् सिद्धान्त नहीं है, और परमाणु विभाजन ही। इस सदी का महान् अविष्कार तो यह है कि वस्तुएँ वैसी नहीं है जैसी कि वे दिखती हैं। इसके साथ सर्वमान्य बात तो यह है कि हम अब तक परम वास्तविकता के पास नहीं पहुँचे हैं।"

"Scientific theories arise, develop and Perish they have their spane of life with its sucesses and triumpps only to give way later to new ideas and a new out look".

(The world in modern science by leopold Infeld P.23.)

वैज्ञानिक सिद्धान्त समूह उदय होते हैं, उन्नति करते हैं एवं समाप्त हो जाते हैं। उनकी कृत, कार्य एवं विजय का जीवन निर्धारित समय तक है। केवल वे कुछ नवीन मार्ग, नवीन भाव, नवीन धारायें एवं कुछ नवीन दृष्टिकोण देते हैं।

Science is not in contact with ultimate reality.

(Mysterious Universe P-111.)

वैज्ञानिकों को ऐसा लगा - "वैज्ञानिक अभी तक परम वास्तविकता से बहुत परे हैं।"

We are not yet in contact with ultimate reality.

"अभी तक हम चरम सत्य के समीप नहीं है।"

Things are not what they seem.

"पदार्थ वैसे नहीं है, जैसे हम देखते हैं।"

विज्ञान की अज्ञता एवं संकीर्णता के कुछ उदाहरण :-

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि स्वयं अनेक महान् वैज्ञानिकों से लेकर अनेक महापुरुषों ने विज्ञान की अज्ञता (अल्पज्ञता) तथा संकीर्णता (भौतिकता, इंद्रिय, यंत्रों की संकीर्णता) को स्वीकार किया है और अभी भी स्वीकार कर रहे हैं जो कि उनकी महानता, सत्यनिष्ठता का द्योतक है। ऐसी प्रवृत्ति तो सामान्य व्यक्तियों से लेकर अधिकांश धार्मिक-व्यक्तियों में भी नहीं पायी जाती है तथापि विज्ञान की कमियों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ - विस्तृत परिज्ञान के लिए मेरी (आ.कनकनंदी) 1) विश्व विज्ञान रहस्य 2) ब्रह्माण्डीय जैविक भौतिक एवं रसायन विज्ञान 3) अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा 4) धर्म दर्शन एवं विज्ञान

5) वैज्ञानिक आइन्स्टीन के सिद्धान्तों को पुनः परिक्षण की आवश्यकता आदि का अध्ययन करें।

I) **परिवर्तित अपूर्ण सिद्धान्त** - अणु सिद्धान्त, प्रकाश की गति सिद्धान्त, गुरुत्वबल, ब्रह्माण्ड के सिद्धान्त आदि इसके उदाहरण हैं।

II) **आधार हीन परिकल्पित मन** - महा विस्फोट सिद्धान्त, जीवोत्पत्तिवाद, डार्विन के विकासवाद आदि इसके उदाहरण हैं।

विज्ञान की कमियों के कारण :-

आधुनिक वैज्ञानिक परम्परा ही समयावधि कम (300-400 वर्ष), वैज्ञानिकों की अल्पज्ञता (क्योंकि वैज्ञानिक सर्वज्ञ/अनन्तज्ञानी नहीं), इंद्रियाँ एवं यंत्रों की क्षमता सीमित, भौतिक केन्द्रित समस्त परीक्षण-निरीक्षण-प्रमाण-साक्षी आदि इसके प्रमुख कारण हैं। यथा - आकाश में स्थित बादल, आकाशीय पिण्ड, वायु, धूली, Mass, Atom आदि का ज्ञान तो विज्ञान कर सकता है परंतु आकाश का यथार्थ ज्ञान नहीं कर सकता है क्योंकि आकाश अभौतिक (अमूर्तिक) होने से उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, वजन, रेडियेशन, भौतिक अणु रचना, आइसोटोप, Half life, (अर्धायु) आदि संभव नहीं है जिसके माध्यम से विज्ञान परीक्षण, निरीक्षण, प्रमाण, सिद्धान्त मानता है। इसी प्रकार शुद्ध जीव द्रव्य, निश्चय काल द्रव्य, गति माध्यम द्रव्य (धर्म द्रव्य), स्थिति माध्यम द्रव्य (अधर्म द्रव्य) भी अभौतिक (अमूर्तिक) होने से उसे विज्ञान वर्तमान की पद्धति से नहीं जान सकता है भले उसकी परिकल्पना (अनुमान) कर सकता है। जब अभी तक विज्ञान शक्तिशाली सूक्ष्म दर्शक यंत्र के माध्यम से भी इलेक्ट्रॉन आदि स्थूल भौतिक Mass को नहीं देख पाया है तथा विश्व के 95% भौतिक तत्त्वों को नहीं जान पाया है जिसे विज्ञान Black matter कहते हैं तब अभौतिक तत्त्वों को कैसे जान सकता है। इतना ही नहीं, Black hole जो कि हजारों सूर्य के Mass के बराबर है, उसे भी नहीं जान पाया है।

अभी तक जब कोई भी वैज्ञानिक स्वयं को, स्वयं के मन को यहाँ तक कि स्वयं के शरीर को भी पूर्णतः नहीं जान पाया है या जानने का दावा भी नहीं किया है तब शुद्ध अणु से लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की बातें तो अलग हैं। अभी तो महान् वैज्ञानिक न्यूटन से लेकर आइन्स्टीन के सिद्धान्त तक संदेह की सीमा में आ गये हैं। जब 1970 सन् तक विज्ञान पर्यावरण सुरक्षा (जीव रक्षा, अहिंसा, Ecology) पारिस्थितिकी आदि के बारे में विशेष सोचा तक भी नहीं करता था, जो विज्ञान का अभी एक मुख्य मिशन है, तब क्या 1970 सन् के पहले जो आध्यात्म विज्ञान में इसके बारे में बहुत ही पहले से शोध-बोध, प्रचार-प्रसार-प्रायोगिक करण होता आ

रहा है वह क्या अवैज्ञानिक, मिथ्या, अनावश्यक था? कदापि नहीं। इसी प्रकार शाकाहार, ध्यान, योगासन, पवित्र भावना, परोपकार, कर्म सिद्धान्त, अनेकांत सिद्धान्त, जीव की शाश्वतिकता/अमरता, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, वस्तु व्यवस्था, आध्यात्मिक अनन्त ज्ञान, ब्रह्माण्ड-प्रतिब्रह्माण्ड, अमूर्तिक द्रव्य आदि के बारे में जान लेना चाहिए।

फ्रांस के सूक्ष्म जीव विशेषज्ञ लुइ पाश्चर ने सूक्ष्म जीवों तथा उनके द्वारा होने वाली जीव-रासायनिक प्रक्रियाओं का विधिवत् अध्ययन किया तथा जैविक-रासायनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया किंतु क्या उनसे पहिले वे सूक्ष्म जीव नहीं थे? वास्तव में ये सभी सूक्ष्म जीव आदि पहिले से भी थे किंतु उनका अध्ययन प्रारम्भ करने पर, वे वैज्ञानिक उनके आविष्कर्ता नहीं बन जाते।

विज्ञान में इसी प्रकार प्रकाश को केवल ऊर्जा मानते थे किंतु खोजों से ज्ञात हुआ कि प्रकाश किरणें वास्तव में सूक्ष्म कणों-फोटॉन की एक धारा है जिसमें वे तीव्र वेग से गति करते हैं।

विज्ञान की अज्ञता एवं संकीर्णता का कुछ संक्षिप्त विवरण

1) आधुनिक विज्ञान केवल भौतिक/मूर्तिक सत्य-तथ्य, प्रमाण, साक्षी, क्रिया-प्रतिक्रिया, गुण-धर्म, अवस्था, ऊर्जा को ही जानता है, मानता है, विश्वास करता है। परंतु भौतिक से भी अनन्त गुणीत जो अभौतिक/अमूर्तिक सत्य-तथ्य, प्रमाण आदि ब्रह्माण्ड में विद्यमान है उसे न जानता है, न मानता है, न विश्वास करता है।
2) इंद्रिय एवं यंत्रों के माध्यम से जो जाना जाता है, उसे ही मानता है। इंद्रिय एवं यंत्रों की क्षमता/शक्ति सीमित एवं भौतिक होने से इसके माध्यम से असीमित-अनन्त अभौतिक तत्त्व को नहीं जान सकता है। इस कारण से भी विज्ञान में प्रथम बिंदु में वर्णित अज्ञता एवं संकीर्णता है।
3) विज्ञान की परम्परा/समयावधि सुदीर्घ नहीं होने से तथा कोई भी वैज्ञानिक सम्पूर्ण अनन्त ज्ञानी/सर्वज्ञ नहीं होने से भी विज्ञान में अज्ञता एवं संकीर्णता है।
4) अमूर्तिक-अध्यात्मिक अनुभव, ज्ञान, प्रमाण, ज्ञेय, सत्य-तथ्य को भी विज्ञान नहीं मानता है क्योंकि इस अमूर्तिक-आध्यात्मिक अनुभव को भौतिक यंत्र या इंद्रियों से नहीं जाना जा सकता है। इससे विज्ञान सबसे श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, प्रत्यक्ष-अनुभूत विशाल ज्ञान एवं सत्य से रहित है। उपर्युक्त कमियों के त्याग से विज्ञान तीव्रता से व्यापक विकास करेगा ऐसी पूर्ण संभावना है।

अनुच्छेद-17

साक्षर मूर्ख एवं शिक्षित (शास्त्रज्ञ)

प्राचीन जैन, वैदिक, बौद्ध आदि के महापुरुषों ने भी कहा है कि आत्मचिन्तन, आत्मध्यान, आत्मानुभव, आत्म विशुद्धि, आत्मलीनता के बिना केवल बाह्य धर्मग्रन्थों के अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन, लेखन, वाद-विवाद, तर्क-वितर्क-कुतर्क, धार्मिक क्रिया-काण्ड, पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा आदि से कोई न धार्मिक होता है, न ही विद्वान्-ज्ञानी होता है, न ही आत्मा की उपलब्धि होती है, न ही इहलोक-परलोक में सुखी होता है। किं बहुना सज्जन लोग भी उसकी प्रशंसा तक नहीं करते हैं अपरंच उसे साक्षरी राक्षस, ग्रन्थों के बोझ ढोने वाला गधा तक मानते हैं। यथा-

जे यावि होइ निव्विज्जे भद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
अभिक्खणं उल्लवई अविणीए अबहुस्सुए।।2 उत्तराध्यय सू. पृ. 175

जो विद्या रहित है, विद्यावान् होते हुए भी अहंकारी है, जो (रसादि में) लुब्ध (गृद्ध) है, जो अजितेन्द्रिय है, बार-बार असम्बद्ध बोलता (बकता) है तथा जो अविनित है, वह अबहुश्रुत है।

अबहुश्रुतता और बहुश्रुतता की प्राप्ति के कारण

अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा कोहा पमाएणं रोगेणाऽऽलस्सएण य।।3

पांच स्थानों (कारणों) से (ग्रहणात्मिका और आसेवनात्मिका) शिक्षा प्राप्त नहीं होती, (वे इस प्रकार हैं)- 1. अभिमान, 2. क्रोध, 3. प्रमाद, 4. रोग और 5. आलस्य। (इन्हीं पांच कारणों से अबहुश्रुतता होती है।)

अह अट्ठाहिं ठाणेर्हि सिक्खासीले त्ति वुच्चई।
अहस्सिरे सया दत्ते न य मम्ममुदाहरे।।4
नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई।।5

इन आठ स्थानों (कारणों) से शिक्षाशील कहलाता है- 1. जो सदा हंसी-मजाक न करे, 2. जो दान्त (इन्द्रियों और मन का दमन करने वाला) हो, 3. जो दूसरों का मर्मोद्घाटन नहीं करे, 4. जो अशील (सर्वथा चारित्रहीन) न हो, 5. जो विशील (दोषों-अतिचारों से कलंकित व्रत-चारित्र वाला) न हो, 6. जो अत्यन्त रसलोलुप न हो, 7. (क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी) जो क्रोध न करता हो (क्षमाशील हो) और, 8. जो सत्य में अनुरक्त हो, उसे शिक्षाशील (बहुश्रुतता की उपलब्धि वाला) कहा जाता है।

अविनीत और विनीत का लक्षण

अह चउदसहिं ठाणेहिं वट्टमाणे उ संजए।
अविणीए वुच्चई सो उ निव्वाणं च न गच्छइ।।6

चौदह प्रकार से व्यवहार करने वाला अविनीत कहलाता है और वह निर्वाण प्राप्त नहीं करता।

अभिक्खणं कोही हवइ पबन्धं च पकुव्वई।
नेत्तिज्जमाणो वमइ सुयं लद्धूण मज्जई।।7
अवि पावपरिक्खेवी अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स रहे भासइ पावगं।।8
पइण्णवाई दुहिले भद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियते अविणीए त्ति वुच्चइ।।9

1. जो बार-बार क्रोध करता है, 2. जो क्रोध को निरन्तर लम्बे समय तक बनाये रखता है, 3. जो मैत्री किये जाने पर भी उसे ठुकरा देता है, 4. जो श्रुत (शास्त्रज्ञान) प्राप्त करके अहंकार करता है, 5. जो स्खलनारूप पाप को लेकर (आचार्य आदि की) निन्दा करता है, 6. जो मित्रों पर भी क्रोध करता है, 7. जो अत्यन्त प्रिय मित्र का भी एकान्त (परोक्ष) में अवर्णवाद बोलता है, 8. जो प्रकीर्णवादी (असम्बद्धभाषी) है, 9. द्रोही है, 10. अभिमानी है, 11. रसलोलुप है, 12. जो अजितेन्द्रिय है, 13. असंविभागी है (साथी में आहारदि का विभाग नहीं करता), 14. और अप्रीति-उत्पादक है।

बहुम्पि चे सहितं भासमानो न तक्करो होति नरो पमत्तो।
गोवो व गावो गणयं परेसं न भागवा सामञ्ञस्स होति।।19

धम्मपद (पृ. 6-7)

चाहे कोई भले ही बहुत से ग्रन्थों का पाठ करने वाला हो, किन्तु प्रमाद में पड़कर यदि उसके अनुसार आचरण न करे, तो वह दूसरों की गौवें गिनने वाले ग्वाले की भाँति, श्रामण्य का अधिकारी नहीं होता।

अप्पम्पि चे सहितं भासमानो धम्मस्स होति अनुधम्मचारी।
रागञ्च दोसञ्च पहाय मोहं सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो।
अनुपादियानो इध वा हुरं वा स भागवा सामञ्ञस्स होति।।20

चाहे कोई भले ही थोड़े ग्रन्थों का पाठ करने वाला हो, किन्तु धर्मानुकूल आचरण करता हो, राग, द्वेष और मोह को छोड़ कर सचेत और मुक्तचित्त वाला हो तथा इस लोक या परलोक में कही भी आसक्ति न रखता हो तो वह श्रामण्य का अधिकारी होता है।

सहस्समपि चे गाथा अनत्थपदसंहिता।
एकं गाथपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति।।2 पृ.33

अनर्थ पदों से युक्त हजार गाथाओं से भी एक गाथा श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर उपशान्त हो जाता है।

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं।।5 पृ.60

सभी पापों को न करना, पुण्यों का संचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना- यह बुद्धों की शिक्षा है।

अनूपवादो अनूपघातो पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं पन्तञ्च सयनासनं।

अधिचित्ते च आयोगो एतं बुद्धान सासनं।।7

निन्दा न करना, घात न करना, प्रातिमोक्ष में संयम रखना, भोजन में मात्रा जानना, एकान्तवास, चित्त को योग में लगाना– यह बुद्धों की शिक्षा है।

न तेन पण्डितो होति यावता बहु भासति
खेमी अवेरी अभयो पण्डितो'ति पवुच्चति।।3 पृ.82

बहुत बोलने से (कोई) पण्डित नहीं होता, प्रत्युत जो क्षेमवान् अ–वैरों और निर्भय होता है, वही पण्डित कहा जाता है।

न तावता धम्मधरो यावता बहु भासति।
यो च अप्पम्पि सुत्वान धम्मं कायेन पस्सति।।
स वे धम्मधरो होति यो धम्मं नप्पमज्जति।।4 पृ.82

बहुत बोलने से (कोई) धर्मधर नहीं होता है, प्रत्युत जो थोड़ा भी सुनकर धर्म का (नाम) काय से साक्षात् करता है, और धर्म में प्रमाद नहीं करता, वही धर्मधर है।

विदिताशेषशस्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते।।94 इष्टो. समाधि पृ 49

शरीर को ही आत्मा समझने वाला सारे शास्त्रों का ज्ञाता होकर भी तथा जाग्रत अवस्था में रहकर भी कर्मबन्धन से रहित नहीं होता है परन्तु आत्मस्वरुप का ज्ञाता अन्तरात्मा सुप्त और उन्मत्त अवस्था में भी कर्मों का संवर और निर्जरा करता हुआ कर्म बन्धन से रहित हो जाता है क्योंकि अन्तरात्मा की सुप्तावस्था में भी आत्म संवेदन से च्युति नहीं होती।

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः।।102 पृ.54

अदुःख–बिना कायक्लेश के सुकुमार भाव से संचित किया हुआ शरीर से भिन्न आत्म स्वरुप का परिज्ञान शारीरिक दुःख आने पर नष्ट हो जाता हैं। छूट जाता है। इसलिये आत्मध्यानी मुनिराज को अपनी शक्ति के अनुसार परिषह सहनन आदि कायक्लेश के द्वारा आत्मस्वरुप का निरंतर चिंतन करना चाहिये।

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्।
मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने बने वा
मुक्तिश्रियं निरूपमामुपयाति भव्यः।।51 पृ.86

बुद्धिमान् भव्य पुरूष इस प्रकार "इष्टोपदेश" ग्रन्थ को भली प्रकार पठन एवं मनन कर हित–अहित की परीक्षा करने में दक्ष निपुण होता हुआ भव्य अपने आत्मज्ञान से मान और अपमान में समता का विस्तार कर, छोड़ दिया है आग्रह जिसने, ऐसा होकर नगर अथवा वन में विधिपूर्वक रहता हुआ, उपमा रहित मुक्ति रूपी लक्ष्मी प्राप्त करता है।

श्रुतेन लिग्ङेन यथात्म शक्ति,
समाहितान्तः करणेन सम्यक्।

समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणं।
विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये।।3 पृ.8

मैं आ. पूज्यपाद आगम से हेतु युक्ति के द्वारा स्वकीयचित्त को स्थिर करके अपनी शक्ति के अनुसार भली प्रकार जानकर शुद्ध आत्म–सुख के इच्छुक जीवों के लिये शुद्धात्मतत्त्व को कहूँगा।

वादाश्च प्रतिवादांश्च, वदन्तोऽनिश्चितांस्तथा।
तत्त्वान्त नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद् गतौ।।4 पृ.36 (ज्ञानसार)

अनिश्चित अर्थ वाले वाद और प्रतिवाद करने वाले जीव आगे बढ़ने में घाणी के बैल की तरह तत्त्व निर्णय को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

ज्ञानध्यानतपःशील–सम्यक्त्वसहितोऽप्यहो।
तं नाप्नोति गुणं साधुर्यं प्राप्नोति शमाऽन्वितः।।5 पृ.45

सम युक्त साधु जिस गुण को प्राप्त करता है। अहो ! ज्ञान–ध्यान–तप–शील और सम्यक्त्व सहित साधु भी उस गुण को प्राप्त नहीं कर सकता।

क्रियाविरहितं हन्त ज्ञानमात्रमनर्थकम्।
गतिं विना पथज्ञोऽपि, नाप्नोति पुरमीप्सितम्।।2 पृ.66

क्रियारहित अकेला ज्ञान निश्चित ही असमर्थ है। मार्ग का जानकार भी चलने की क्रिया के अभाव में इच्छित नगर नहीं पहुँच सकता।

बोद्धार मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमग्ङे सुभाषितम्।।2 पृ.27 भर्तृ. वैराग्य शतक

विद्वान् ईर्ष्या से ग्रस्त हैं, प्रभु (धनी) गर्व से दूषित हैं, इन दोनों के अतिरिक्त बाकी बचे लोग अज्ञान में डूबे हैं, इस कारण कवियों की बहुमूल्य उक्तियाँ उनके मन की मन ही में रह जाती हैं उनको कोई समझ नहीं पाता।

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मन्दान्धः समभवम्
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्य भवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित्किंचिद् बुधजनसकाशादवगतम्
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः।।8 पृ.80 नीतिशतक

जब मैं कुछ–कुछ ज्ञान रखने लगा तब मैं हाथी की तरह मदोन्मत्त हो गया और मेरे चित्त में यह गर्व हुआ कि, मैं सर्वज्ञ हूँ। परन्तु जब मैं विद्वानों की संगति से यथार्थ में कुछ–कुछ प्राप्त कर सका तब मेरा वह मद ज्वर के समान उतर गया और मुझको यह समझ पड़ा कि, मैं मूर्ख हूँ।

ज्ञानं सतां मानमदादिनाशन
केषाञ्चिदेतन्मदमानकारणमच।
स्थानं विविक्तं यामिनां विमुक्तये
कामातुराणामपि कामकारणम्।।77 पृ.63 वैराग्यशतक

ज्ञान एक ऐसी चीज है, जो सज्जनों के मान, मद आदि को नाश करती है और वही दुर्जन के मद और मान को बढाती है। जैसे एकान्त स्थान योगी पुरुषों के मुक्ति का साधन है उसी तरह वही

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदूर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति।।3 पृ.78 नीतिशतक

नासमझ सहज में प्रसन्न किया जा सकता है। समझदार उससे भी सहज में प्रसन्न किया जा सकता है। परन्तु जो न तो समझदार है न नासमझ– ऐसे श्रेणी के मनुष्य को ब्रह्मा भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः।।53 पृ.99 (नीतिशतक)

दूर्जन विद्वान् हो तो भी उसको त्याग देना चाहिए। क्या मणि से भूषित भी सर्प भयंकर नहीं होता ?

पुरा विद्वत्तासीदुपशमवतां क्लेशहतये
गता कालेनासौ विषयसुखसिद्धयै विषयिणाम्।
इदानो सम्प्रेक्ष्य क्षितितलभुजः शास्त्रविमुखा–
न हो कष्टं साऽपि प्रतिदिनमधोऽधः प्रविशति।।27 पृ.39 (वैराग्यशतक)

पूर्वकाल में विद्या विद्वानों के क्लेश को नाश करने के लिए हुआ करती थी, कुछ काल के अन्तर से वही विषयी पुरुषों के विषय सुख का साधन बन बैठी, अब इस समय राजाओं को शास्त्र से विमुख देखकर वह प्रतिदिन नीचे ही नीचे होती जा रही है, अहो ! बड़े कष्ट की बात है।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति।।9 पृ.70 (चाणक्य–नीति–दर्पण)

जिसके पास स्वयं बुद्धि नहीं है, उसे क्या शास्त्र सिखा देगा। जिसकी दोनों आँखें फूट गई हों, क्या उसे शीशा दिखा देगा ?

दातृत्वं प्रियवक्तृत्वं धीरत्वमुचितज्ञता।
अभ्यासेन न लभ्यन्ते चत्वारः सहजा गुणाः।।1 पृ.75

दानशक्ति, मीठी बात करना, धैर्य धारण करना, समय पर उचित–अनुचित का निर्णय करना, ये चार गुण स्वाभाव सिद्ध हैं। सीखने से नहीं आते।

कामं क्रोधं तथा लोभं स्वादु शृंङ्गारकौतकम्।
अतिनिद्राऽतिसेवा च विद्यार्थी ह्यष्ट वर्जयेत्।।10 पृ.78

काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, शृंगार, खेल–तमाशे, अधिक नींद और किसी की अधिक सेवा, विद्यार्थी इन आठ कामों को त्याग दे। क्योंकि ये आठ विद्याध्ययन में बाधक हैं।

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्याः
अल्पश्च कालो बहु विघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं,
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्।।10 पृ.111

अनन्त शास्त्र हैं, बहुत सी विद्यायें हैं, थोड़ा सा समय 'जीवन' है और उसमें बहुत से विघ्न हैं। इसलिए समझदार मनुष्य को उचित है कि जैसे हंस सबको छोड़कर पानी से दूध ले लेता है, उसी तरह जो अपने मतलब की बात हो, उसे ले ले बाकी

सब छोड़ दे।

पठन्ति चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
आत्मानं नैव जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा।।12 पृ.111

कितने लोग चारों वेद और बहुत से धर्मशास्त्र पढ़ जाते हैं, पर वे आपको नहीं समझ पाते, जैसे कि कलछुल पाक में रहकर भी पाक का स्वाद नहीं जान सकती।

पुस्तकं प्रत्ययाधीतं नाऽधीतं गुरुसन्निधौ।
सभामध्ये न शोभन्ते जारगर्भा इव स्त्रियः।।1 पृ.123

जिस पंडित ने गुरु के पास न पढ़कर पुस्तक ही से विद्या प्राप्त कर ली है। ऐसे लोग सभा में नहीं शोभते जैसे व्यभिचार से गर्भवती स्त्री।

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।।14 पृ.17 (हितोपदेशः)

जो पराई स्त्री को माता के समान, पराये धन को कंकड़ के समान, और सब प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझता है, वही सच्चा पण्डित है।

त्वं चातीव दुर्गतस्तेन तत्तुभ्यं दातुं सयन्तोऽहम्। तथा
न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः।।17 पृ.18

'जो दुष्ट है उसे धर्मशास्त्र और वेद पढने से क्या होता है ? क्योंकि, स्वभाव ही सबसे प्रबल होता है, जैसे गौ का दूध स्वभाव से ही मीठा होता है।'

अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव किया।
दुर्भगाभरणप्रायो ज्ञानं भारः कियां विना।।18 पृ.18

जिनकी इन्द्रियाँ और चित्त वश में नहीं है उनका व्यापार हाथी के स्नान के समान निष्फल है और इसी प्रकार क्रिया के बिना ज्ञान, वंध्या स्त्रियों के पालन–पोषण के समान भार अर्थात् निष्फल है।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।18 पृ.67 (गीता)

विद्वान् और विनयवान् ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और कुत्ते को खानेवाले मनुष्य में ज्ञानी समदृष्टि रखते हैं।

तात्पर्य सबकी, उनकी आवश्यकतानुसार सेवा करते हैं। ब्राह्मण और चांडाल के प्रति समभाव रखने का अर्थ यह है कि ब्राह्मण को सांप काटने पर उसके घाव को जैसे ज्ञानी प्रेमभाव से चुसकर उसका विष दूर करने का प्रयत्न करेगा वैसा ही बर्ताव चांडाल को भी सांप काटने पर करेगा। (महात्मा गांधी)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।19 पृ.67

जिनका मन समत्व में स्थिर हो गया है उन्होंने इस देह में रहते हुए भी

संसार को जीत लिया है। ब्रह्म, निष्कलंक और समभावी है, इसलिए वे ब्रह्म में ही स्थिर होते हैं।

मनुष्य जैसा और जिसका चिंतन करता है वैसा हो जाता है। इसलिए समत्व का चिंतन करके, दोषरहित होकर, समत्व के मूर्तिरूप निर्दोष ब्रह्म को पाता है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।7 पृ.127
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।8
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।9
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।।10
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदोतोऽन्यथा।।11

अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इंद्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार– रहितता, जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख और दोषों का निरंतर भान, पुत्र, स्त्री और गृह आदि में मोह तथा ममता का अभाव, प्रिय और अप्रिय में नित्य समभाव, मुझमें अनन्य ध्यानपूर्वक एक निष्ठ भक्ति, एकांत स्थान का सेवन, जन समूह में सम्मिलित होने की अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञान की नित्यता का भान और आत्मदर्शन– यह सब ज्ञान कहलाता है। इससे जो उलटा है वह अज्ञान है।

बहवः पण्डिताः क्षुद्राः सर्वे मायोपजीविनः।
कुर्युः कृत्यमकृत्यं वा उष्ट्रे काकादयो यथा।।311 पृ.125 पंचतंत्र ।

अधिकतर क्षुद्र विचार वाले विद्वान् करने योग्य और न करने योग्य के कार्यों को माया (कपटनीति) से अपनी जीविका सम्पादन करते हैं। जैसे ऊँट के साथ कौए आदिकों ने किया।

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।
पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्।।420 पृ.175

मूर्खों को दिया गया उपदेश उनके क्रोध को बढ़ाने के लिए ही होता है, न कि शान्ति के लिए। जिस प्रकार सर्पों को दूध पिलाने से उनके विष का ही वर्धन होता है।

उपदेशो न दातव्यो यादृशे तादृशे जने।
पश्य वानरमूर्खेण सुगृही निगृहीकृतः।।421

जैसे–तैसे व्यक्ति को उपदेश न देना चाहिए। देखो, मूर्ख बन्दर ने एक उत्तम गृहस्थ को घर से शुन्य (बेघर) बना दिया।

मातृवत्परदाराणि परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत्सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः।।435 पृ.181

जिनकी बुद्धि सत्कर्म में रहती है ऐसे धार्मिक लोग परायी स्त्री को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान और समस्त जीवों को अपनी आत्मा के समान देखते हैं।

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वानन्सर्वत्र पूज्यते।।58 पृ.21 पंचतंत्र ॥

विद्वत्ता और राजत्व कभी भी समान नहीं हो सकते क्योंकि राजा अपने ही देश में आदर पाता है परन्तु विद्वान् का सब जगह सत्कार होता है।

साभ्युत्थानक्रिया यत्र नालपा मधुराक्षराः।
गुणदोषकथा नैव तत्र हर्म्यं न गम्यते।।68 पृ.27

जहाँ न तो अभ्युत्थानं हो, न मीठे–मीठे वचन हो और न गुण–दोष–चर्चा हो, उस घर में नहीं जाना चाहिये।

नाच्छादयति कौपीनं न दंशमशकापहम्।
शुनः पुच्छमिव व्यर्थं पण्डित्यं धर्मवर्जितम्।।98 पृ.33 पंचतंत्र ॥।

जो (कुत्ते की पूँछ) न तो गुह्य अंग को ढकती और जो न मक्खी तथा मच्छर आदि को उड़ा ही सकती है ऐसी कुत्ते की पूँछ के समान धर्मशून्य शास्त्र–चातुर्य (जो न तो वैराग्य उत्पन्न कर) कौपीन धारण करता (संन्यासी बनता) और न मच्छर आदि के समान मनोविकारों (काम आदि) को ही नष्ट कर सकता है निष्फल ही है।

- जो कुछ मुझे ज्ञान है वह यही कि मेरे पास रंचमात्र भी ज्ञान नहीं।1 **(सुकरात)**
- जितना हम अध्ययन करते हैं, उतना ही हमको अपने अज्ञान का आभास होता है। **(स्वामी विवेकानंद)**
- किसी व्यक्ति में कितना ज्ञान है, इसका पता इस बात से लगता है कि उनका मन विषयों में कितना अटका हुआ है या उनसे मुड़ा हुआ है। **(तुलसीदास)**
- उस विषय में अज्ञानी रहो, यह ज्यादा बेहतर है बजाय अधूरा ज्ञान प्राप्त करने के। **(साइरस)**
- अज्ञान प्रकाश को जाग्रत नहीं कर सकता, लेकिन घृणा तो ज्ञान के प्रकाश को भी बुझा देती है। **(रविन्द्रनाथ ठाकुर)**
- अपने अज्ञान का आभास होना ही ज्ञान की ओर एक बढ़ा कदम है। **(डिजरायली)**
- अपनी अज्ञानता से अनभिज्ञ होना अज्ञानी की सबसे बड़ी बिमारी है। **(ए.बी. एलाकॅट)**

अनुच्छेद-18

कथंचित् बाह्य लौकिक या धार्मिक शिक्षा तथा संस्कार अहितकर भी है ।

मैं बाल्यकाल से ही शिक्षा एवं संस्कार को बहुत ही महत्व देता आ रहा हूँ। इसलिए मैंने विद्यार्थी जीवन से ही जब कि मैं तीसरी कक्षा का विद्यार्थी था तब से ही मैं स्वयं अध्ययन कर रहा हूँ तथा दूसरों को भी पढा रहा हूँ। अभी तक मैंने विद्यार्थी जीवन से लेकर ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, मुनि, उपाध्याय, आचार्य अवस्था तक सोलह प्रदेशों के छोटे ग्राम से लेकर महानगर के स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय के लाखों विद्यार्थी; हजारों अध्यापक, प्राध्यापक, प्राचार्य, पंडित, लेक्चरार, प्रोफेसर्स, वैज्ञानिक तथा 400-500 जैनाचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, ब्रह्मचारी आदि को लौकिक एवं धार्मिक शिक्षा तथा संस्कार हजारों कक्षा एवं 31 शिविर में और स्कूल, कॉलेज में दिया हूँ और दे रहा हूँ। एतदर्थ 1) संस्कार (छः भाषा में 15 संस्करण) 2) धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका (भाग-प्र., द्वि., तृ., दशम संस्करण) 3) नैतिक शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान (हिंदी, अंग्रेजी) 4) सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान (छोटा, बृहत्) आदि कृति की रचना की है तथा 10 राष्ट्रीय-अंतराष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी, 11 कम्प्यूटर कृत ज्ञानवर्धक प्रतियोगिता और भी हजारों सांस्कृतिक कार्यक्रम, प्रश्नमंच, आहार दान के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक रूप का आयोजन किया है, कर रहा हूँ और आगे भी करुँगा। मुझ से जिन्होंने शिक्षा एवं संस्कार प्राप्त किये हैं वे प्रायः योग्य बने हैं और बन रहे हैं। इस प्रतिफल के कारण एवं मेरी स्वाभाविक परोपकार की भावना के कारण मैं शिक्षा, संस्कार, दीक्षा आदि में सतत संलग्न हूँ। तथापि मैंने जो विश्व साहित्यों के अध्ययन से जाना, टी.वी. तथा समाचार पत्रों से सुना-पढा और प्रायोगिक रूप से अनुभव किया उसके आधार पर मैं जिस निष्कर्ष पर पहूँचा हूँ वह यह है कि अयोग्य व्यक्ति द्वारा या अयोग्य पद्धति से अथवा अयोग्य व्यक्ति को प्राप्त बाह्य लौकिक या धार्मिक शिक्षा तथा संस्कार अहितकर भी होता है। जिस प्रकार लोक में प्रचलन है कि स्वाती नक्षत्र की बूंद सीप में मोती बन जाती है, तो केलों के वृक्ष में कपूर तथा सर्प के मुख में विष बन जाती है। प्राकृतिक जल अग्नि के संपर्क में गरम या बाष्प तो फ्रिज में बर्फ बन जाता है जिससे जल की प्राकृतिक तरलता, शीतलता आदि गुण में परिवर्तन हो जाता है। प्राकृतिक भोज्य पदार्थ के भी गुण-धर्म में तब परिवर्तन आ जाता है जब उसे विभिन्न मिर्ची, मसाला, चाप-ताप, सर्दी-गर्मी से संयुक्त किया जाता है। इस प्रकार बाह्य शिक्षा, संस्कार से भी जीव की प्राकृतिक, सहज-सरल, स्वभाव, प्रज्ञा, बुद्धि, विचार, व्यवहार आदि प्रभावित होते

हैं, परिवर्तीत होते हैं। जल का स्रोत जिस प्रकार स्वाभाविक निम्न गामी है और कम ऊँचाई से गिरने पर उस का प्रहार कम होता है और अधिक ऊँचाई से गिरने पर उसका प्रहार अधिक होता है अथवा यंत्र के माध्यम से भी उसका प्रहार अधिक होता है उसी प्रकार जीवों की दुर्बुद्धि-दुष्प्रवृत्ति भी शिक्षा, प्रशिक्षण (संस्कार) से तीव्र हो सकती है। जिस प्रकार तीव्र गतिशील पत्थर, गोली, यान-वाहन आदि की मारक शक्ति भी अधिक होती है तो तीक्ष्ण धार वाले अस्त्रों की भेदक शक्ति अधिक होती है, पाक के कारण औषधि की शक्ति बढती है उसी प्रकार शिक्षा, प्रशिक्षण (संस्कार) के कारण अहितकर बुद्धि एवं प्रवृत्ति भी तीव्र हो जाती है। निम्न में विभिन्न क्षेत्र की अपेक्षा से कुछ सविस्तार वर्णन स्पष्टीकरण के लिए कर रहा हूँ।

1) व्यक्तिगत कुप्रभाव :- मानव शिशु किसी भी देश में किसी भी भाषा-भाषी या धार्मिक संप्रदाय अथवा धनी-गरीब या शिक्षित या अशिक्षित परिवार में, घर में या जङ्गल में जन्म ले तथापि उनके नग्नत्व, रोना, हंसना, हाथ पैर हिलाना, खडा होना-बैठना आदि प्रायः समान ही होते हैं। हर भाषा-भाषी, राष्ट्र आदि के अनेक शिशुओं को एक साथ खेलने के लिए एक स्थान में रखने से वे बिना भेदभाव से खेलेंगे, प्रसन्न होंगे। परंतु धीरे-धीरे माता-पिता, परिवार, समाज, परिसर, शिक्षा, धार्मिक-संप्रदाय, राष्ट्र आदि के प्रभाव, शिक्षा, संस्कार आदि के कारण उसके भाषा, विचार, रहन-सहन, व्यवहार आदि में अंतर आ जाता है, इसके कारण एक भाषा वाला अन्य भाषी को, एक धर्म वाला अन्य धर्मावलम्बी को भिन्न मानता है। इसी प्रकार परिवार, ग्राम, समाज, प्रदेश, देश, धनी-गरीब, शिक्षित, अशिक्षित की अपेक्षा से भी भेद-भाव उत्पन्न होता है। इसी प्रकार पशु-पक्षियों के शिशुओं में भी प्रायः पाया जाता है। शाकाहारी-मांसाहारी (भक्ष्याभक्षक) शिशु भी प्रेम से खेलते हुए पाये जाते हैं परंतु बडे होने पर तथा संस्कार, प्रशिक्षण के कारण ये भाव एवं व्यवहार लोप हो जाते हैं।

2) धार्मिक सांप्रदायिकता का कुप्रभाव :- संकीर्ण, कट्टर, अंधविश्वास से युक्त धार्मिक शिक्षा-प्रशिक्षण एवं संस्कार का कुप्रभाव व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, अंतराष्ट्र के ऊपर सबसे अधिक पडता है। ऐसा प्रायोगिक रूप से अनुभव में आता है; समाचार पत्रों में पढने में मिलता है, टी.वी. में देखने एवं सुनने में आता है। इतना ही नहीं देश-विदेश के धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक साहित्यों के अनेक रक्तरञ्जित पृष्ठ इसके लिए साक्षी हैं । संकीर्ण, कट्टर, अंधविश्वास पूर्ण धार्मिक साहित्य, प्रचारक, समर्थक, पोषक, प्रशिक्षक, प्रशिक्षण, शिक्षा, संस्कार के कारण व्यक्ति, परिवार, संगठन, धार्मिक संप्रदाय के अनुयायी, राष्ट्र, अंतराष्ट्र तक संकीर्ण, कट्टर, अंधविश्वासी, क्रूर, विघटक, विध्वंसक, हिंसक, आतङ्कवादी, युद्धोन्मादी

बन जाते हैं। सत्ता, संपत्ति, स्त्री, प्रभुत्व, आदि के कारण धरती तथा मानव जाती जितनी खंडित-विखंडित, पीडित, आतङ्कित, आक्रमण-प्रतिआक्रमण तथा रक्तरञ्जित हुए हैं उससे भी अधिक ऐसे ही धार्मिक-सांप्रदायिकता के कारण है। इसी कारण व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक अन्य धर्मावलम्बी या स्वधर्म के भी अन्य पंथ-मत के अनुयायी को केवल पर ही नहीं मानते हैं परंतु उन्हें विपक्षी से आगे भी विधर्मी, कुधर्मी, अधर्मी, पापी, शत्रु, अनिष्टकारी, धरती के लिए अनिष्टकारी मानते हैं, बोलते हैं, लिखते हैं। इतना ही नहीं उन्हें मन-वचन-काय तथा हर संभव उपायों से अपमानित, दुःखित, पीडित करते हैं; उन्हें पराधीन करना, उनका शोषण करना, उनका धर्म परिवर्तन करना यहाँ तक कि हत्या तक करना अपना श्रेष्ठ धार्मिक कर्तव्य मानते हैं। ऐसे ही कुछ धार्मिक साम्प्रदायिकता के कारण पशुबली से लेकर नरबली, मांस भक्षण, मद्यपान एवं धर्म प्रचारार्थे युद्ध, आतङ्कवाद, राष्ट्र के विखण्डन, आत्महत्या, शिशुहत्या, दासप्रथा (गुलामी), बहु विवाह प्रथा, रुढीवादिता, अंधविश्वास, सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलन में आई है और प्रचलन में है। इसके कारण व्यक्ति से लेकर राष्ट्र के मौलिक, पवित्र, उदार, प्रगतिशील, सत्याग्रही, अहिंसक, समन्वयात्मक, सापेक्ष, एकता, विश्व मैत्री, विश्व शांति, वैज्ञानिक, तार्किक सोच-विचार, कथन, लेखन, व्यवहार कुंठित, विपरीत, विकृत होते हैं। इसके कारण प्राचीन काल से देश-विदेश के अनेक उदारवादी, प्रगतिशील व्यक्तियों की प्रताडना से लेकर हत्या तक हुई है और ऐसी बर्बरता अभी भी मानव समाज में विद्यामान है जो कि अभी भी कभी-कभी प्रकट होती रहती है। भिन्न-भिन्न परिवार, भाषा, शिक्षा, सत्ता-संपत्ति, राष्ट्र आदि के लोग एक साथ मिलकर खेल, शिक्षा, व्यापार, यान-वाहन में यात्रा, राजनीति आदि कर सकते हैं परंतु भिन्न-भिन्न धार्मिक पंथ-मत वाले एक दूसरों के धार्मिक कार्यक्रम आराधनास्थल, अनुयायियों को क्षति पहुँचाते हैं। राजनैतिक रैली आदि में जितना तनाव, लडाई-झगडा, हिंसा आदि की आशंका रहती है उससे भी अधिक धार्मिक रैली, जुलूस आदि में आशंका रहती है और कभी-कभी घटती भी है। कट्टर साम्प्रदायिकता का प्रशिक्षण, संस्कार, शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की उपर्युक्त कार्यों में अधिक भूमिका रहती है। सामान्य धर्मावलम्बियों का तो उस-उस पंथ-मत का विशेष ज्ञान ही नहीं रहता है इसलिए वे ऐसे कुकार्य कम करते या करने की क्षमता कम रहती है। इसलिए तो ऐसे कर्यक्रम के लिए प्रशासन सरलता से अनुमति नहीं देता है और देने पर भी सुरक्षा के लिए अधिक पुलिस की व्यवस्था करता है। इसलिए प्रबुद्ध उदारवादी, सहिष्णु लोग ऐसी सांप्रदायिकता को धर्म के नाम पर अनुचित, कलंक, अधर्म मानते हैं, उससे दूर रहते हैं और इसे कम करना चाहते हैं।

3) जातियता का कुप्रभाव :- गुण-कर्म-स्वभाव, व्यवहार, व्यवसाय आदि जातियता के कारण है। जैसा कि शरीर के उन्नताङ्ग या निम्नाङ्ग के स्थान एवं कार्य अलग-अलग होने पर वे सब शरीर के लिए आवश्यक हैं उसी प्रकार विभिन्न जाति के लिए भी जान लेना चाहिए। अपनी जाति की विशेषता के अनुसार अच्छे कार्य करके उसे गौरावान्वित करना चाहिए। परंतु अपनी जाति की विशेषता के कारण या जाति की विशेषता को जानकर अन्य जाति के साथ दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए। परंतु देश-विदेश में जाति को लेकर भेद-भाव, छुआ-छूत, मानापमान, घृणा, द्वेष से लेकर महायुद्ध तक हुआ है। हिटलर ने जर्मनी जाति को सबसे शुद्ध, सबसे श्रेष्ठ आर्य जाति के रूप में स्थापित करने के लिए यहूदी आदि के साथ घृणा की एवं सब के ऊपर शासन करने के लिए द्वितीय विश्व युद्ध किया जिससे 2½ करोड लोगों की हत्या हुई। इसी प्रकार ऊँच-नीच, काला-गोरा आदि भेद-भाव के कारण मानव जाति की जो क्षति हुई है और हो रही है यह सर्व विदित है। इसका दुष्प्रभाव समाज से लेकर अंतर्राष्ट्र, शिक्षा, राजनीतिक से लेकर धर्म तक में पडा है और पड रहा है। इस के कारण मानव जाति की समरसता में बाधा पहुँचती है। प्रत्येक अङ्ग में भी उपाङ्ग होते हैं वे सब सह अस्तित्व सहयोग करते हुए रहते हैं परंतु प्रत्येक जाति में जो उपजाति भी है उसमें भी इस गुण के परिवर्तन में उपर्युक्त दुर्गुण पाये जाते हैं। बच्चे या जिसे जाति संबंधी ऊँच-नीच की जानकारी नही हैं वह भी ऐसा दुर्व्यवहार नहीं करता है। मुख्यत: जाति संबंधी कुविचार तथा दुर्व्वहार बाह्य लौकिक या धार्मिक शिक्षा-संस्कार से आते हैं ऐसा देश-विदेश के पुराण, इतिहास तथा प्रायोगिक अनुभव से सिद्ध होता है।

4) राष्ट्रीयता का कुप्रभाव :- वायु, सूर्य-रश्मी, बादल, आकाश, आदि किसी व्यक्ति विशेष के नहीं हैं परंतु सब के हैं उसी प्रकार धरती है। क्योंकि प्राकृतिक वस्तु किसी की भी व्यक्तिगत नहीं होती है। जीव जहाँ जन्म लेता है प्राकृतिक रूप से उस धरती का वह भाग उसका निवास स्थान होता है। इसलिए उस भाग के प्रति अपनत्व होना स्वाभाविक है। उस स्थान की सुरक्षा एवं समृद्धि से उस जीव की भौतिक, शारीरिक आदि सुरक्षा-समृद्धि भी निर्भर हैं इसलिए मातृभूमि भक्ति/राष्ट्रीयता/राष्ट्रभक्ति भी उचित है। परंतु संकीर्ण, कट्टर, घृणा उत्पादक, अन्य राष्ट्र के ऊपर आक्रमणात्मक राष्ट्रीयता के संस्कार, शिक्षा, प्रशिक्षण के कारण अनेक राष्ट्र परतंत्र हो जाते हैं, विध्वंस हो जाते हैं। प्राचीन कालीन दिग्विजय से लेकर सिकंदर की विश्व विजय, अशोक का कलिंग के ऊपर आक्रमण, प्रथम विश्व युद्ध, तिब्बत-कश्मीर, फिलीस्तीन-इजराईल आदि की समस्या, भारत का विखण्डन यह सब ऐसी ही राष्ट्रीयता का दुष्परिणाम है। ऐसी राष्ट्रीयता "वसुधैव कुटुम्बकम्" विश्व मैत्री, विश्व शांति, सह अस्तित्व

आदि के विध्वसंक है।

5) धनी-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित आदि का कुप्रभाव :- भौतिक, सांसारिक सुख-सुविधा आदि के लिए धन, शिक्षा आदि की आवश्यकता है। परंतु उस की उपलब्धि से व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र में संस्कृति, सच्चाई एवं अच्छाई से अधिक विकृति, अहंवृत्ति, शोषण प्रवृत्ति, फैशन-व्यसन आदि की बुराई आती है। यह सब बुराई प्राय: सब क्षेत्र, सब काल में व्याप्त हैं। धनी या शिक्षित व्यक्ति स्वयं को दूसरों से सर्वोच्च सिद्ध करने के लिए अनेक बुराइयों को अपनाता है तथा उपने परिवार को भी उसी प्रकार प्रशिक्षण देता है; स्वयं साधारण व्यक्तियों से दूर-दूर रहता है तथा परिवार को भी ऐसा ही व्यवहार करने के लिए बाध्य करता है। विश्व इतिहास साक्षी है कि व्यक्ति से लेकर जो जाति, संगठन, समाज या राष्ट्र संपन्न या शिक्षित बने वे उपर्युक्त दुर्गुणों से युक्त हुए हैं और अभी भी हो रहे हैं। यथा - रावण, कंस, रोमन साम्राज्य, कौरव, यादव, जर्मन, अंग्रेज, सिकंदर, नेपोलियन, हिटलर आदि। अधिकांश युद्ध, आक्रमण, विध्वंस, राज्यविस्तार इनके द्वारा या ऐसे ही व्यक्ति आदि के द्वारा होते हैं और हो रहे हैं। कहा भी है -

कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वे खाये बौराये नर वे पाये बौराय॥
पोथी पढ-पढ जग मुआँ पंडित भयकोय।
ढाई आखर प्रेम का पढे सो पंडित होय॥
सीख ताको दीजिये जाके सीख सुहाय।
सीख दीनी वानरा घर बया के जाय॥

इसी प्रकार ग्राम-नगर, प्राचीनता-आधुनिकता, सुंदर-असुंदर, दुर्बल-बलवान् आदि के बारे में यथायोग्य जान लेना चाहिए।

बाह्य शिक्षा एवं संस्कार से रहित सरल जीवन :- जैन धर्म के देढ-दो हजार वर्ष प्राचीन ग्रंथों में वर्णन पाया जाता है कि भोग भूमिज मनुष्यों में (पशु-पक्षी) भी उपर्युक्त विकृतियाँ नहीं होती थी। पूर्व जन्म के संस्कार, पुण्यकर्म के कारण जो भोगभूमि में उत्पन्न होते थे उन में प्राकृतिक रूप से ही सहज-बुद्धि, सरल-सहजता, मृदुता, नम्रता, परस्पर प्रेमपूर्ण व्यवहार आदि गुण होते थे। उस समय पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, राजनैतिक, शैक्षणिक, धार्मिक, संस्थागत कोई व्यवस्था नहीं थी। उनका जीवन, व्यवहार, खान-पान से लेकर लालन-पालन भी प्राकृतिक होता था इसलिए बाह्य लौकिक या धार्मिक शिक्षा, संस्कार, प्रशिक्षण, पारिवारिक से लेकर राष्ट्रीयता आदि का प्रभाव भी उनके ऊपर नहीं था। अत: उस संबंधी विकृतियाँ भी उनमें नहीं थी। निम्न में उनका वर्णन प्राचीन ग्रंथानुसार कर रहा हूँ-

णत्थि असण्णी जीवो, णत्थि तहा सामि भेदो य।
कलह-महाजुद्धादि, ईसा-रोगादिण हु होंति। 332

इस काल में असंज्ञी जीव नहीं होते तथा स्वामी और भृत्य का भेद नहीं होता। इसी प्रकार नर -नारी ईर्ष्या, रोग से रहित और कलह एवं युद्धादिक विरोधकारक भाव भी नहीं होते।

रत्ति-दिणाणं भेदो, तिमिरादव-सीद-वेदणा-णिंदा।
परदार-रदी परधण-चोरी या णत्थि णियमेण॥ 333

प्रथम काल में नियम से रात-दिन का भेद, अंधकार, गर्मी व शीत की वेदना, निंदा, परस्त्रीरमण और परधन हरण नहीं होता। इस काल में युगल-युगल रूप से उत्पन्न हुए मनुष्य उत्तम व्यञ्जनों (तिल इत्यादिक) और चिन्हों (शंख, चक्र इत्यादिक) से परिपूर्ण होते हुए अष्टम भक्त में अर्थात् चौथे दिन बेर के बराबर आहार ग्रहण करते हैं। भोगभूमि काल में संतानों की उत्पत्ति पिता-माता के जीवन के अंतिम समय में होती है। दीर्घ जीवन काल में संतान की उत्पत्ति कदापि नहीं होती है। एक साथ युगल रूप से (जोडा से) भाई-बहिन रूप से जन्म ग्रहण करते हैं। दोनों के जन्म के उपरान्त पिता-माता की मृत्यु हो जाती है। दोनों भाई-बहिन प्रकृति की गोद में निरापद रूप से निर्भीक रूप से पलते-पोसते एवं पति-पत्नि रूप में जीवनयापन करते हैं। उनका शरीर अत्यंत मनोहर, सुसंगठित, दृढ होता है। उस भोगभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य नौ हजार हाथियों के सदृश बल से युक्त किञ्चित् लाल हाथ-पैर वाले, नव चंपक के फूलों की सुगंध से व्याप्त, मार्दव एवं आर्जव गुणों से सहित, मंद कषाय, सुशीलता पूर्ण आदि के अर्थात् वज्रवृषभनाराच सहनन से युक्त, समचतुरस्त्र शरीर संस्थान वाले उगते सूर्य के सदृश्य तेजस्वी, कवलाहार करते हुए भी मल-मूत्र से रहित और युगल धर्म से सहित होते हैं। इस काल में नर-नारी के अतिरिक्त अन्य परिवार नहीं है। भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले मनुष्य का शरीर वज्र के समान सुदृढ होता है। उनके शरीर के अस्थिपञ्जर वज्र के समान दृढ एवं वज्र के वेस्टन से बँधे रहते हैं। वे कभी भी लघुशंका एवं दीर्घशंका नहीं जाते हैं।

गाम-णयरदि सव्वं, ण होदि ते होंति दिव्व-कल्पतरू।
णिय-णिय-मण-संकप्पिद-वत्थूणिं देंति जुगलाणं॥ 341

इस समय वहाँ पर गाँव व नगरादिक नहीं होते, केवल वे सब कल्पवृक्ष होते हैं जो युगलों को अपने-अपने मन की कल्पित वस्तुओं को दिया करते हैं। भोगभूमिजों की श्रोत इंद्रिय गीत श्रवण में, चक्षुरूप में, घ्राण सुंदर सौरभ में, जिह्वा विविध प्रकार के रसों में और स्पर्शन इंद्रिय स्पर्श में रमण करती है। इस प्रकार [illegible]

वे युगल नर-नारी उत्तम भोग सामग्री के निरंतर सुलभ होने पर भी इंद्रिय विषय में तृप्ति को नहीं पाते। ये भोग-भूमिजों के युगल कदलीघातमरण से रहित होते हुए आयु पर्यंत चक्रवर्ती के भोग समूह की अपेक्षा अनंत गुणे भोग को भोगते हैं। ये युगल कल्पवृक्षों से दी गई वस्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया से बहुत से शरीर को बनाकर अनेक प्रकार के भोगों को भोगते हैं। वे भोग भूमिज जीव, देव-देवियों के सदृश बत्तीस प्रशस्त लक्षण से सहित सुकुमार देह रूप विभव के धारक, समचतुरस्त्र संस्थान से संयुक्त होते हैं और उनका शरीर धातुमय होते हुए भी छेदा-भेदा नहीं जा सकता एवं अशुचित्व से रहित होने के कारण इनके शरीर में मूत्र-विष्टा का आस्रव नहीं होता है।

अक्खर-आलेक्खेसुं, गणिदे गंधव्व-सिप्प-पहुदीसुं।
ते चउसट्ठि-कलासुं होंति सहावेण णिउणयरा॥ 385

वे अक्षर चित्र, गणित, गंधर्व संगीत, शिल्प इत्यादि चौंसठ कलाओं में स्वभाव से ही अतिशय निपुण होते हैं। वे सब उत्तम युगल पारस्परिक प्रेम में अत्यन्त मुग्ध रहा करते हैं इसलिए उनके श्रावक के व्रत और संयम नहीं हैं। वे नर-नारी युगल कोयल के समान मधुरमयी, किन्नर के समान कंठ वाले, कुल जाति के भेद से रहित, सुख में आसक्त और दरिद्रता से रहित होते हैं।

तिरिया भोगखिदीए, जुगला जुगला हवंति वर-वण्ण।
सरल मन्दकसाया, णाणाविह-जदि-संजुत्ता॥ 388

भोग-भूमि में उत्तम वर्ण विशिष्ट, सरल, मंदकषायी और नाना प्रकार की जातियों वाले तिर्यञ्च जीव युगल-युगल रूप से होते हैं। भोग-भूमि में गाय, सिंह, हाथी, मगर, शूकर, सारंग, रोझ (ऋश्य), भैंस, वृक (भेडिया), बंदर, गवय, तेंदुआ, व्याघ्र, शृगाल, रींछ, भालू, मुर्गा, कोयल, तोता, कबूतर, राजहंस, कोरड, काक, क्रौंच और कंजक तथा और भी तिर्यञ्च होते हैं। जहाँ जिस प्रकार मनुष्यों के भोग होते हैं उसी प्रकार इन तिर्यञ्चों के भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार फल, कंद, तृण और अंकुरादि रूप भोग होते हैं। वहाँ व्याघ्रादि भूमिचर और काक प्रभृति नभचर तिर्यञ्च मांसाहार के बिना कल्पवृक्षों का मधुर फल भोगते हैं तथा भोग-भूमि में उदय कालीन सूर्य के समान प्रभाव वाले समस्त हरिणादिक तृण-जीवी पशुओं के युगल दिव्य तृणों का भक्षण करते हैं।

उपर्युक्त भोग-भूमिज मनुष्य के अनेक गुण-धर्म, सरल-सहजता अभी भी शिशु में पाये जाते हैं। इस संबंधी विशेष ज्ञान मेरे ''बडों के गुरु बच्चे'' (बच्चों से प्राप्त शिक्षायें) लेख से प्राप्त कर सकते हैं।

अनुच्छेद-21

विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास के लिए छुट्टियों का उपयोग

(शिक्षा मनोविज्ञान एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से)

श्रम के बाद विश्राम, भोजन के बाद पाचन के समान विद्यालय के अध्ययन एवं परीक्षा के बाद वाचन को पाचन के लिए छुट्टियाँ आवश्यक है। श्रम के बाद विश्राम/निद्रा से जिस प्रकार शरीर की क्षरित ऊर्जा की आपूर्ति होती है, शारीरिक–मानसिक विकास के साथ–साथ दोनों का स्वास्थ्य लाभ होता है तथा भोजन के बाद कुछ समय तक कुछ न खाकर विश्राम करने से सही पाचन से शरीर–मस्तिष्क–इन्द्रियों को ऊर्जा प्राप्त होती है जिससे वे पहले से भी अधिक स्वस्थ, सबल, कार्यक्षम बनते हैं उसी प्रकार छुट्टियों के सदुपयोग से सर्वांगीण (शारीरिक–मानसिक–भावात्मक–आध्यात्मिक–सामाजिक) विकास होता है। इसके विपरीत जिस प्रकार भोजन–पाचन के पहले बार–बार भोजन से अपच आदि रोग हो जाते हैं, इससे भोजन, शरीर, समय, श्रम आदि का दुरुपयोग है न कि किसी भी प्रकार के लाभ। इस ही प्रकार स्कूल की पढ़ाई तथा परीक्षा के बाद यदि विद्यार्थी छुट्टियों का सदुपयोग निम्न प्रकार से नहीं करते हैं तो उनका भी सर्वांगीण विकास के परिवर्तन में हानियाँ होना सम्भव है।

(1) खेल से सर्वांगीण विकास– कहा जाता है कि ''पढ़ोगे–लिखोगे तो बनोगे नवाब खेलोगे–कूदोगे तो बनोगे खराब''। परन्तु एकान्ततः यह लोकोक्ति सही नहीं है। ''खेलोगे–कूदोगे तो बनोगे नायाब ''भी सम्भव है। क्योंकि खेल से शारीरिक–मानसिक–भावात्मक–सामाजिक विकास होता है। खेल से शारीरिक सक्रियता बढ़ती है जिससे श्वास क्रिया तीव्र होती है। इससे प्राणवायु पर्याप्त ग्रहण होती है जिसके कारण खून की शुद्धता बढ़ती है तथा खून के माध्यम से प्राणवायु (आक्सीजन) सम्पूर्ण शरीर के साथ–साथ मस्तिष्क को पर्याप्त प्राप्त होती है। मानव–मस्तिष्क ग्रहीत 16 प्रतिशत आक्सीजन, ग्रहण करता है। इससे शरीर एवं मस्तिष्क स्वस्थ, सक्रिय होते हैं जिससे बुद्धि भी बढ़ती है। खेल से शारीरिक गर्मी बढ़ती है जिससे पसीना आता है। इसके कारण शरीर की गन्दगी, टॉक्सीन (विषाक्ततत्त्व) निकल जाते हैं।

खेल से प्रेम, संगठन, टीम भावना, समयानुबद्धता, अनुशासन, एकाग्रता, सतर्कता, कार्यशीलता, सामाजिकता, कष्ट सहिष्णुता, सीखने की प्रवृत्ति, सृजन–क्षमता आदि गुणों में वृद्धि होती है। इसके साथ–साथ मोटापा (चर्बी वृद्धि) रोग नहीं होता है जिससे मोटापा के कारण उत्पन्न डायबिटीज, हृदयाघात, आलस्यपना (जड़ता), रक्तचाप आदि रोग भी नहीं होते हैं। व्यायाम, खेल से बुढापा के लक्षण शीघ्र नहीं आता है, झुर्रियाँ शीघ्र नहीं पड़ती है।

चाइल्डहुड स्पेशलिस्ट जैनी लिन्डॉन बताती है कि खेल कर आप अपनी छुपी प्रतिभा को निखार सकते हैं। बहुत कुछ नया सीख और कर सकते हैं। आपने

देखा होगा अपने कुछ नन्हें साथियों को जो खूब खेलते–कूदते हैं और पढ़ाई में भी अव्वल रहते हैं। वे स्मार्ट और क्रिएटिव होते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि वे जमकर मस्ती करते हैं। ऐसा करने से उनके दिमाग को रिलैक्स मिलता है और कुछ देर के लिए वे सब कुछ भूलकर अपना सारा ध्यान अपनी रचनात्मकता को विकसित करने में लगाते हैं और सबकी आंखों के तारे बन जाते हैं। अमेरिकन एकेडमी ऑफ पीडिएट्रिक्स की नई रिपोर्ट में यह बात सामने आई है कि गेम्स इमेजिनेशन को डवलप करते हैं। पर्सनेलिटी डवलपमेंट में खेलने की अहमियत पर हुए अध्ययन बताते हैं कि जो बच्चे बाहर खेलते हैं वे आत्मविश्वासी होते हैं उनका विकास जल्दी होता है। फैमेली थैरेपिस्ट और पेरेन्ट–चाइल्ड रिलेशनशिप स्पेशलिस्ट लीसा कहती हैं कि बेरोकटोक खेलने का समय अपना गुस्सा कम करता है और अगर कोई समस्या है, तो वह भी आप जल्दी सुलझा सकते हैं। प्ले प्रोजेक्ट मैनेजर मिकेल टॉम्ब्स कहते हैं कि खेलने से ही आप बखूबी समझ सकते हैं कि क्या अच्छा है और क्या बुरा । किसी को क्या कहना चाहिए और क्या नहीं यह भी सीख पाएंगे। डॉक्टर केनथ कहते हैं कि ऐसे बच्चे जीवन में अधिक उन्नति करते हैं, जिन्हें बचपन में खेलने के लिए पूरा समय मिलता है इसी से वे रीचार्ज होते हैं । उनकी स्टडी मे यह सामने आया है कि खेल और पढाई में भी सकारात्मक संबंध होता है। खूब खेलें और मन लगाकर होमवर्क करें। (संगीता शुक्ला)

खेल के साथ–साथ पैदल चलना, भ्रमण करना, प्राणायम, योगासन, ध्यान, गृह कार्य, धार्मिक कार्य, परोपकार, सेवा, वैयावृत्ति (साधु–संत, गुरुजन की सेवा) शरीर में तेल मालिश, पानी में तैरना, पर्वतारोहण, सीढ़ी चढ़ना–उतरना, पैदल तीर्थ यात्रा, वृक्षों को पानी देना, रोगी–पशु–पक्षी आदि की सेवा से भी उपर्युक्त लाभ के साथ–साथ अच्छे संस्कार पड़ते हैं, शुभ कार्य होते हैं, पुण्यबन्ध होता है। गुरुजनों से ज्ञान–अनुभव–आशीर्वाद प्राप्त होते हैं। इन सब कारणों से छुट्टियों के समय विद्यार्थियों को गृहकार्य नहीं देना चाहिए । क्योंकि गृहकार्य के कारण वे खुलापन, स्वतंत्र, उत्साह, प्रसन्नता अनुभव नहीं करते हैं। इसके साथ–साथ गृहकार्य में व्यस्त होने के कारण समयाभाव से खेल, भ्रमण, मनोरंजन, धार्मिक कार्य, सेवा, अन्यान्य नवीन विधाओं के ज्ञानार्जन में प्रोत्साह से भाग नहीं ले पाते हैं। जिसके कारण उनके सर्वांगीण विकास में बाधा पहुँचती है। गृहकार्य भी विद्यार्थी पासबुक आदि से नकल करके लिखने के कारण कोई विशेष उत्पादक, अनुभवात्मक ज्ञान नहीं हो पाता है। ग्राम के अधिकांश विद्यार्थी उपर्युक्त गुण–धर्म को अधिकांशतः पालने के कारण योग्य होते हैं और बड़े होकर भी श्रेष्ठ बनते हैं। इसके साथ–साथ ग्राम में विभिन्न प्रदूषण कम होने से तथा शान्त–प्रशान्त–स्वच्छ वातावरण, सादा जीवन उच्च विचार, सरल–सहज–सहयोगात्मक संस्कृति–परम्परा, शुद्ध वायु–जल–भोजन, प्राकृतिक परिवेश होने के कारण भी ग्रामीण विद्यार्थी नगर के विद्यार्थियों से अधिक वरीयता के योग्य बनते हैं। भले नगर में विद्या के बाह्य कारणभूत विद्यालय आदि की उपलब्धता अधिक है परन्तु विद्यार्जन के अन्तरंग कारण तथा उपर्युक्त गुण–धर्म नगर में कम पाये जाते हैं इसलिए नगर के बच्चे भले चार दिवालों के अन्दर कैद होकर पुस्तक रटें, ट्यूशन करें, होमवर्क भी करें तथापि

उनमें समुचित सर्वांगीण विकास नहीं होता है। जैसा कि प्राकृतिक, मुक्त, उपजाऊ जमीन में बोया हुआ बीज विशाल वृक्ष बनता है, प्रचुर फूल–फल प्रदान करता है किन्तु महल के अन्दर गमला में बोया हुआ बीज से ऐसा सम्भव नहीं है।

(2) परिभ्रमण से सर्वांगीण विकास—तीर्थ स्थल, ऐतिहासिक स्थल, नदी–पर्वत–समुद्र आदि प्राकृतिक स्थल के परिभ्रमण से भी स्वास्थ्य लाभ होता है, उत्साह–साहस–कष्ट–सहिष्णुता–ताजगी में वृद्धि होती है, नई–नई संस्कृति–परम्परा–भाषा का ज्ञान होता है, पौराणिक–ऐतिहासिक–महापुरुष–घटना सम्बन्धी ज्ञान के साथ–साथ कला–स्थापत्य–सभ्यता का ज्ञान होता है, प्रकृति की संगति से सहजता –सरलता–उदारता–विशालता–वैज्ञानिकता का प्रायोगिक परिज्ञान होता है जो कि केवल पुस्तकों में रटने से, चित्र–नक्शा आदि से सम्भव नहीं है। क्या आकाश–समुद्र आदि की विशालता–सुन्दरता का प्रायोगिक ज्ञान पुस्तक, चित्रादि से संभव है ?

(3) धार्मिकता–सेवा–परोपकार आदि से सर्वांगीण विकास– सच्चे–अच्छे धार्मिक प्रवचन, साधु संगति, धार्मिक–कक्षा–स्वाध्याय–शिविर–संगोष्ठी–चर्चा–सांस्कृतिक कार्यक्रम, साधुओं को आहार देना, सेवा–व्यवस्था करना, साधुओं से पढ़ना, उनके साथ विहार करना आदि से विभिन्न धार्मिक–वैज्ञानिक–सांस्कृतिक–भाषा ज्ञान होता है, उत्तम संस्कार पड़ता है, प्रशस्त भाव होता है, शान्ति मिलती है, पुण्य संचय होता है, निस्वार्थ–उदार–समता–समन्वय–एकता–संगठन के भाव आते हैं, दूसरों के साथ परिचय के साथ–साथ मित्रता होती है।

(4) विभिन्न सत् साहित्य–पत्र–पत्रिकाओं का अध्ययन—प्राथमिक विद्यालय से लेकर विश्व विद्यालयों की पढ़ाई आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान से भी विश्व के सम्पूर्ण सत्य का एक छोटी सी जानकारी प्राप्त होती है। इसलिए विद्यालयों के कोर्स की पुस्तकों के अतिरिक्त विभिन्न सत् शिक्षाप्रद देश–विदेशों के विभिन्न विधाओं के साहित्य–लेख, पत्र–पत्रिकाएँ, इन्टरनेट, डिस्कवरी–नेशनल जियोग्राफी–हिस्टोरी, एनिमल प्लेनेट आदि वैज्ञानिक शोधपूर्ण विषयों के टी.वी चैनल का अध्ययन करना चाहिए। इससे विभिन्न विषयों का विस्तृत विषय ज्ञान एवं भाषा ज्ञान प्राप्त होने से विद्यालय की शिक्षा भी सहज हो जाती है जिससे कोर्स की पुस्तकों की रटाई की ज्यादा आवश्यकता नहीं पड़ती है।

(5) शान्त–एकाग्रता–प्रसन्नता से होता है सर्वांगीण विकास—जिस प्रकार स्वच्छ–शान्त जल में या स्वच्छ–स्थिर समतल दर्पण में प्रतिबिम्ब सही पड़ता है तथा स्वच्छ प्रकाशयुक्त वातावरण में स्थिर कैमरा से फोटो सही आता है उसी प्रकार शान्त–एकाग्र–प्रसन्न चित्त में विषय को समझने की, स्मरण रखने की, विश्लेषण करने की तथा प्रयोग करने की क्षमता अधिक होती है। चित्त (मन) को शान्त–एकाग्र–प्रसन्न रखने का उपाय है–तनाव, भय, चिन्ता, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा, अति आकांक्षा, दंभ, दिखावा, कुटिलता, असत्य, अपराध, चोरी, कुशीलता, अतिभौतिकता, फैशन–व्यसन, नशीली वस्तु सेवन, मांस–मछली–अंडा सेवन आदि का त्याग करके

सहज–सरल–पवित्र सादा–जीवन उच्च विचार, सहिष्णु, संतोष, समतापूर्ण, परिश्रमी जीवन जीना चाहिए, शुद्ध शाकाहार–दुग्धाहार–फलाहार करना चाहिए, वात्सल्यमय–सहयोगात्मक–हल्का–फुल्का जीवन जीना चाहिए। सहृदयी मित्रों की मण्डली में अच्छी चर्चा करनी चाहिए, स्वस्थ–सुखद–प्रसन्नदायक शालीन मनोरंजन, हँसी–मजाक करना चाहिए। स्वेच्छा से नृत्य, संगीत, नाटक, गाना–बजाना, चित्रकला, सिलाई, कढ़ाई, वृक्षारोपण, वृक्षों को पानी देना, प्यासों को पानी पिलाना, ग्राम, नगर–तालाब–नदी आदि की सफाई आदि करना, अपने घर को साफ–सुथरा करके सजाना, गृहकार्य में माता–पितादि को सहयोग करना आदि से मनोरंजन के साथ–साथ ज्ञानार्जन करके छुट्टियों का सदुपयोग करना चाहिए। इतना ही नहीं विद्यालय की पढ़ाई के दिनों में भी पढ़ाई–गृहकार्य के साथ–साथ उपर्युक्त कार्यों को भी समयोचित यथायोग्य रूप से करने से पढाई बोझरूप न बनकर ज्ञानार्जन एवं आनन्ददायी बनेगी। इसलिए शिक्षकों, माता–पिता आदि को बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए बच्चों के ऊपर पढ़ाई, होमवर्क, ट्यूशन के बोझ से न दबाकर उसे मुक्त वातावरण में विकास करने के लिए सहयोगी बनें। इसी प्रकार विद्यार्थी भी पढाई का ढोंग न करके उपर्युक्त ढंग से अपना सर्वोदयी विकास करें। विशेष परिज्ञान के लिए मेरी (आ. कनकनन्दी) (1) सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान (2) शिक्षा–संस्कृति एवं नारी गरिमा आदि कृतियों का अध्ययन करें। अन्यथा विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास के परिवर्तन में तनाव से लेकर आत्महत्या तक संभव है। स्कूल और कॉलेज के 16000 विद्यार्थियों ने खुदकुशी की थी भारत में वर्ष 2004 से 2006 के बीच। केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय की ओर से हाल ही में जारी आंकडों के मुताबिक वर्ष 2004 में 5610, 2005 में 5138 और वर्ष 2006 में 5857 विद्यार्थियों ने आत्महत्या की थी।

मोक्षमार्गस्य यो ज्ञाता मोहादेश्च जयोद्यतः।
तस्य भावीनि दुःखानि यान्ति शान्तिमयत्नतः।।9

देखो, जो पुरुष मुक्ति के साधनों को जानता है और सब मोहों को जीतने का प्रयत्न करता है, भविष्य में आने वाले सब दुःख उससे दूर हो जाते हैं।

कामः क्रोधस्तथा मोहो यथा स्युः क्षीणशक्तिकाः।
तथानुगामिदुःखानि क्षीयन्तेऽधिकमात्रया।।10

काम, क्रोध और मोह ज्यों ज्यों मनुष्य को छोड़ते जाते हैं, दुःख भी उनका अनुसरण करके धीरे–धीरे नष्ट हो जाते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

(I) जैन ग्रन्थ :–

1. प्रवचनसार
2. पंचास्तिकाय
3. समयसार
4. अमृतकलश
5. नियमसार
6. अष्टपाहुड
7. मोक्षशास्त्र
8. तत्त्वार्थसार
9. धवला सिद्धांत
10. परीक्षा मुख (प्रमेयरत्नमाला)
11. तत्त्वार्थ राजवार्तीक
12. तिलोय पण्णत्ती
13. इष्टोपदेश
14. समाधितंत्र
15. उत्तराध्ययन (जै. श्वे.)
16. आदिपुराण
17. पुरूषार्थ सिद्धयुपाय
18. द्रव्य संग्रह
19. अमितगति श्रावकाचार
20. आत्मानुशासन
21. आचारसार
22. परमात्म प्रकाश
23. गोम्मटसार जी.का.
24. योगसार
25. देवागम
26. स्वा. का. अनुप्रेक्षा
27. भ. आराधना
28. समाधि भक्ति
29. मूलाचार
30. स्वयंभू स्तोत्र
31. कुरल काव्य

(II) वैदिक ग्रन्थ

1. गीता
2. अष्टावक्रगीता
3. महाभारत
4. उपनिषद
5. नीतिशतक
6. हितोपदेश
7. पंचतंत्र
8. ऋगवेद
9. अथर्ववेद
10. विवेक चूडामणि
11. भगवत पुराण
12. चाणक्य नीति

(III) आचार्य कनकनन्दी (लेखक) के ग्रंथ

1. सत्यसाम्यसुखामृतम् (प्रवचनसार की समीक्षा)
2. स्वतंत्रता के सुत्र (मोक्षशास्त्र की समीक्षा)
3. आध्यात्मिक मनोविज्ञान (इष्टोपदेश की समीक्षा)
4. विश्वद्रव्य विज्ञान (द्रव्यसंग्रह की समीक्षा)
5. जैन एकता एवं विश्वशान्ति
6. युग निर्माता भगवान् ऋषभदेव
7. ज्वलन्तशंकाओं का शीतल समाधान
8. शिक्षा संस्कृति एवं नारी गरिमा
9. धर्म दर्शन एवं विज्ञान
10. विभिन्न भावात्मक प्रदूषण एवं भ्रष्टाचारः कारण तथा निवारण
11. अनेकान्त के प्रकाश में मोक्षमार्ग
12. तत्त्व चिन्तन–सर्वधर्म समता से वियवशान्ति
13. अनेकान्त सिद्धान्त
14. कलिकाल में साधु क्यों बने ?!

(IV) बौद्ध ग्रन्थ

1. धम्मपद

(V) अन्य लेखकों के साहित्य

1. आह! जिन्दगी
2. गांधी जी की सूक्तियाँ
3. उपनिषदों की देन
4. बिन्दु में सिंधु
5. प्रेरणात्मक विचार (डॉ. कलाम)
6. महान् लोगों के महान् विचार
7. संस्कृतनिबन्धशतकम्
8. विभिन्न पत्र–पत्रिकायें
9. डिस्कवरी, नेशनल ज्योग्राफि आदि वैज्ञानिक चैनल

आचार्य कनकनन्दी जी के विविध शोध पूर्ण-ग्रन्थ

11–9–2008 से परिवर्तित मूल्य

I आध्यात्मिक

		मुल्य
1)	अनेकान्त सिद्धान्त (द्वि.सं.)	41
2)	अहिंसामृतम् (द्वि. सं.)	
3)	अनेकान्त के प्रकाश में मोक्षमार्ग	21
4)	अपुनरागमन पथ: मोक्षमाग	05
5)	आदर्श नागरिक की प्रायोगिक क्रियायें	10
6)	आहार दान से अभ्युदय	15
7)	उपवास का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण	25
8)	जीवन्त धर्म सेवा धर्म	15
9)	तत्त्वानुचिन्तन (द्वि. सं.)	30
10)	दिगम्बर साधु का नग्नत्व एवं केशलोंच (हिन्दी, मराठी, गुजराती, उर्दू (11सं.)	10
11)	धर्म, जैन धर्म तथा भ. महावीर	75
12)	बन्धु बंधन के मूल	51
13)	विनय मोक्षद्वार (द्वि. सं.)	31
14)	विश्व धर्मसभा (समोवशरण)	51
15)	क्षमा वीरस्य भूषणम् (तृ.सं.)	35
16)	श्रमण संघ संहिता	61
17)	त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य (द्वि. सं.)	35

II आध्यात्मिक-विज्ञान(गणित)

1)	अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा	201
2)	धर्म विज्ञान बिन्दु	15
3)	धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका-(पु.1) स.सं.	15
4)	धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका-(पु.2) ष.सं.	20
5)	धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका-(पु.3) ष.सं.	30
6)	धर्म दर्शन एवं विज्ञान (द्वि.सं.)	101
7)	ब्रह्माण्डीय जैविक-भौतिक एवं रसायन विज्ञान-	151
8)	ब्रह्माण्ड के रहस्य	25

9)	ब्रह्माण्ड एवं प्रतिब्रह्माण्ड : धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण-	15
10)	विश्व विज्ञान रहस्य	151
11)	विश्व प्रतिविश्व एवं श्याम-विवर	35
12)	वैज्ञानिक आईन्स्टीन के सिद्धान्तों को पुन: परीक्षण की आवश्यकता	15
13)	ब्रह्माण्ड-काल-आकाश एवं जीव: अनन्त (बडा)	201
14)	ब्रह्माण्ड-काल-आकाश एवं जीव: अनन्त (छोटा)	25

(III) आध्यात्मिक मनो-विज्ञान

1)	अतिमानवीय शक्ति (द्वि. सं.)	51
2)	क्रान्ति के अग्रदूत (द्वि. सं.)	35
3)	कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेशण (द्वि. सं.)	75
4)	ध्यान का वैज्ञानिक विश्लेषण (द्वि. सं.)	51
5)	लेश्या मनोविज्ञान (द्वि. सं.)	21
6)	तत्त्व चिन्तन–सर्व धर्म समता से विश्व शान्ति	51

(IV) शिक्षा-मनोविज्ञान

1)	आचार्य कनकनन्दी की दृष्टि में शिक्षा	11
2)	नैतिक शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान	40
3)	सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान(बृहत्)	401
4)	सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान (छोटा)	21

(V)शोध (धार्मिक,दार्शनिक,वैज्ञानिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक)

1)	अग्नि परीक्षा	21
2)	अनुभव चिन्तामणि	15
3)	ऊठो ! जागो ! प्राप्त करो (हिन्दी, कन्नड)	11
4)	करें साक्षात्कार यथार्थ सत्य का	50
5)	करें साक्षात्कार यथार्थ धर्म एवं भाव का	40
6	जैन धर्मावलम्बी संख्या और उपलब्धि	21
7)	जीवन विकास एवं विनाश के सूत्र	21
8)	जैन धर्मावलम्बिओं की दिशा-दशा-आशा	5
9)	जैन एकता एवं विश्व शान्ति	5
10)	धार्मिक कुरीतियों का परिशोधन (द्वि.सं.)	10
11)	नग्न सत्य का दिग्दर्शन	25
12)	निकृष्टतम स्वार्थी तथा क्रूरतम प्राणी : मनुष्य	21

13) प्रथम शोध बोध-आविष्कार एवं प्रवक्ता- 75
14) प्राचीन भारत की 72 कलायें (द्वि. सं.) 21
15) भ्रष्टाचार उन्मूलन 5
16) भारत को गारत एवं महान् भारत बनाने के सूत्र 15
17) भारत के सर्वोदय के उपाय 5
18) मानवीय निकृष्ट संघर्ष का इतिहास 10
19) मेरा लक्ष्य-साधना एवं अनुभव (आचार्य श्री की जीवनी) 10
20) ये कैसे धर्मात्मा, निर्व्यसनी, राष्ट्र सेवी 21
21) व्यसन का धार्मिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण (च.सं.) 51
22) विज्ञान को भी अविज्ञात सत्य 20
23) शाश्वत समस्याओं का समाधान 25
24) शिक्षा, संस्कृति एवं नारी गरिमा 61
25) संगठन के सूत्र (द्वि.सं.) 41
26) संस्कार (हिन्दी, गुजराती,मराठी, कन्नड) 15 वां. सं. 10
27) संस्कार (बृहत्) 50
28) सत्यान्वेषी आ. कनकनन्दी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व 10
29) संस्कृति की विकृति 10
30) संस्कार और हम 35
31) हिंसा की प्रतिक्रिया है : प्राकृतिक प्रकोपादि (द्वि.सं.) 35
32) क्षमा वीरस्य भूषणम् (तृ. सं.) 21
33) विभिन्न क्रम विकासवाद एव परम आध्यात्मि विकासवाद 25
34) भारत की अन्तरंग खोज 10
35) विभिन्न भावात्मक प्रदूषण एवं भ्रष्टाचार: कारण तथा निवारण 41
36) वर्तमान की आवश्यकता : धार्मिक उदारता न कि कट्टरता 15
37) वैश्वीकरण वैश्वीक–धर्म एवं विश्वशान्ति 21

VI अनुवाद, टीका,समीक्षा(आध्यात्मिक विज्ञान)

1) इष्टोपदेश (आध्यात्मिक- मनोविज्ञान) 101
2) पुरूषार्थसिद्धयुपाय (अहिंसा का विश्वस्वरूप) 201
3) विश्व द्रव्य-विज्ञान (द्रव्य संग्रह) 101
4) स्वतंत्रता के सूत्र (मोक्ष शास्त्र)(द्वि.सं.) 201
5) सत्यसाम्यसुखामृतम् (प्रवचनसार) 601

VII मीमांसा,समालोचना,संकलन

1) कौन है विश्व का कर्त्ता- हर्त्ता-धर्त्ता? 21
2) ज्वलन्त शंकाओं का शीतल समाधान (द्वि. सं.) 75
3) जिनार्चना पुष्प-1(तृ.सं.) 75
4) जिनार्चना पुष्प-2 21
5) निमित्त उपादान मीमांसा (द्वि.सं.) 21
6) पुण्य पाप मीमांसा (द्वि.सं.) 35
7) पूजा से मोक्ष, पुण्य, पाप भी 41
8) भाग्य एवं पुरूषार्थ (हिन्दी, मराठी) पं.सं. 15
9) शोधपूर्ण ग्रन्थ तथा ग्रन्थ कर्त्ता आ.कनकनन्दी 10
10) अमृतत्त्व की उपलब्धि के हेतु समाधि - मरण 40
11) परोपदेश कुशल बहुतेरे.... 5
12) विविध दीक्षा विधि 31

VIII इतिहास

1) अयोध्या का पौराणिक, ऐतिहासिक एवं राजनैतिक विश्लेषण 35
2) ऋषभ पुत्र भरत से भारत (द्वि. सं.) 35
3) धर्म प्रर्वतक 24 तीर्थंकर (द्वि. सं.) 21
4) पार्श्वनाथ का तपोपसर्ग कैवल्य धाम: बिजौलिया 35
5) भारतीय आर्य कौन कहाँ से- कब से कहाँ के ? 50
6) युग निर्माता भ.ऋषभदेव (द्वि. सं.) 61
7) युग निर्माता भ.ऋषभदेव (पद्यानुवाद) 5
8) विश्व इतिहास 51

(IX)स्मारिका (वैज्ञानिक संगोष्ठी)

1) कर्म सिद्धान्त और उसके वैज्ञानिक मनोविज्ञान एवं सामाजिक आयाम 60
2) शिक्षा-शोधक-स्मारिका- 100
3) स्मारिका (स्वतंत्रता सूत्र में विज्ञान) 81
4) स्मारिका (स्वतंत्रता के सूत्र में विज्ञान) 51
5) जैन धर्म में विज्ञान 150
6) भारतीय संस्कृति में विश्व शान्ति और पर्यावरण सुरक्षा के सूत्र 20
7) मंथन (जैन दर्शन एवं विज्ञान)

X स्वप्न,शकुन-भविष्य विज्ञान, मंत्र,सामुद्रिक शास्त्र (शरीर से भविष्य ज्ञान)

1) भाव-भाग्य तथा अंग-विज्ञान (सर्वांग विज्ञान की वैज्ञानिक गवेषणा) 251
2) भविष्य फल विज्ञान (द्वि.सं.) 301
3) मंत्र-विज्ञान (द्वि.सं.)- 35
4) शकुन-विज्ञान 75
5) स्वप्न-विज्ञान (द्वि.सं.) 101

XI स्वास्थ्य विज्ञान

1) समग्र स्वास्थ्य के उपाय: तपस्या 25
2) आर्दश विचार-विहार-आहार 75
3) धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान (पु.1) तृ.सं. 50
4) धर्म एवं स्वास्थ्यविज्ञान (पु.2) 21
5) शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक स्वास्थ्य के विविध आयाम 201

XII प्रवचन

1) क्रान्ति दृष्टा प्रवचन 11
2) जीने की कला (संवर्द्धित द्वि. सं.) 25
3) भ. महावीर तथा उनका दिव्य संदेश 5
4) भारत को पुन:विश्वगुरु बनाने के लिए समग्र क्रान्ति चाहिए 11
5) मनन एवं प्रवचन (द्वि.सं.) 10
6) विश्व शान्ति के अमोघ-उपाय (द्वि.सं.) 10
7) विश्व धर्म के दस लक्षण 41
8) व्यक्ति एवं समाज निर्माण के आद्य कर्तव्य 15
9) शान्ति क्रान्ति के विश्व नेता बनने के उपाय 41
10) समग्र क्रान्ति के उपाय 15
11) सत्य परमेश्वर 75

XIII)कथा

1) कथा सुमन मालिका 15
2) कथा सौरभ 21
3) कथा पारिजात 15
4) कथा पुष्पाञ्जली 15
5) कथा चिन्तामणि 15
6) कथा त्रिवेणी 8

XIV अंग्रेजी साहित्य

1) Fate and efforts (II.ed.) 25
2) Leshya Psychology (II.ed.) 21
3) Moral Education 51
4) Nakedness of Digambar Jain Saints and Kesh (III.ed.) 21
5) SansKaras 10
6) Sculopr the Rishabhadev 51
7) Phylosophy of Scientific religion 51
8) What kinds of Dharmatma (piousman) these are 51

(XV) डॉ. एन. एल. कछारा के साहित्य (संस्थान के सचिव)

1) जैन कर्म सिद्धान्त: आध्यात्म और विज्ञान 50
2) समवशरण (आ. कनकनन्दी से भेट वार्ता)
3) Jain Doctrine of Karma 35
4) षट्द्रव्य की वैज्ञानिक मीमांसा 300

XIV प्रकाशनार्थे तैयार

1) विश्व के परम विचित्र प्राणी: मानव,- पृष्ट 400
2) पंचविध एकेन्द्रिय जीव,- पृष्ट- 200

XVI आगामी प्रकाशनाधीन ग्रंथ

1) न्याय,राजनीति,अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान: पृष्ठ संख्या लगभग 1000
2) भारत का दिव्य संदेश : पृष्ठ लगभग 500 से 750 तक
4) परम्परा, धर्म एवं विज्ञान :- परम्पराओं में धर्म क्या है? अधर्म क्या है? विज्ञान क्या है? अविज्ञान क्या हैं? यह सिद्ध किया जायेगा। पृष्ठ-प्राय: 100
8) परम पर्यावरण वैज्ञानिक तीर्थंकर एवं पर्यावरण की सुरक्षा: पृष्ठ प्राय: 400 से 500
10) कल्याणकारक : जैन आयुर्वेद विज्ञान-पृष्ठ प्राय:1100 (वैज्ञानिक समीक्षा)
11) भाव ही-कल्पवृक्ष, चिंतामणि,कामधेनु - पृ. 200

आचार्य कनकनन्दीजी के आह्वान एवं संदेश

1) जैन धर्म का यह संदेश-/सत्य-समता-शान्ति से जीओ !

2) भगवान् महावीर का यह संदेश-/सत्य-समता- शान्ति से जीओ !

3) बन्द करो भाई बन्द करो-/ पूजनीयों का विरोध बंन्द करो !

4) सत्य धर्म का यह स्वरूप-/ सत्य-समता और प्रेमभाव !

5 जैन धर्म का यह स्वरूप-/ सत्य-पवित्रता-एकता भाव !

6) कनकनन्दी का है यह संदेश-/ प्रतिशोध नहीं पवित्रता से जीओ !

7) सत्य वचन की यह पहिचान-/ हिम-मित-प्रिय-आगम वचन !

8) सच्चे धार्मिक की क्या पहिचान-/ मन-वचन-कृति से हो पावन !

9) धर्म- प्रभावना के क्या उपाय-/ पवित्र भाव और पवित्र काम !

10) कनकनन्दी का यह संदेश-/ अनेकान्त, एकता जिन्दाबाद !

11) मोक्ष मार्ग को ही अपनाओ-/ पंथवाद को दूर भगाओ !

12) हमारी मांग पूरी करो -/ सत्य-शान्ति से जीने दो।

13) हम सब का है यह बल-/ सत्य-एकता का है सम्बल !

14) देश-विदेश में हो प्रभाव-/ जैन वैज्ञानिक आध्यात्मिकवाद !

15) दुनियाँ को अपील हमारो-/ बिजा ने पहले आप सुधरो !

- अज्ञानी के लिए मौन से श्रेष्ठ कुछ नहीं और यदि युक्ति वह समझ ले तो अज्ञानी न रहे। **(शेख सादी)**
- मुर्ख का मन ज्ञान में नहीं अज्ञान में लगता हैं। **(लैनिन)**
- अज्ञानता किसी भी जनतांत्रिक सरकार को, पशुओं द्वारा चुनी हुई, पशुओं के लिए, पशुओं की सरकार बना देती है। **(आचार्य कृपलानी)**
- अल्प ज्ञान खतरनाक होता है। **(बायरन)**
- दुनिया भर का ज्ञान प्राप्त करने से पंडित तो बना जा सकता है लेकिन ज्ञानी बनने के लिए अनुभुति जरुरी है। **(ओशो)**
- जिसने एक बार भी ज्ञान रुपी अमृत का स्वाद ले लिया, वह सब कार्यों को छोड़कर उसी की ओर दौड़ पड़ता है। **(जाबाल दर्शनोपनिषद)**

आचार्य श्री कनकनन्दीजी के साहित्यों का विमोचन करते हुए स्व गुरु ग.आ. श्री कुन्थुसागरजी, आ. श्री कुमुन्दनन्दीजी, उपाध्याय श्री विद्यानंदीजी, मुनि श्री तरुण सागरजी (कुन्थुगिरी, कर्नाटक)

आचार्य कनकनन्दी ससंघ एवं डॉ. कच्छारा तथा प्रो. वर्डिया को जैन धर्म के वैज्ञानिक सत्य–तथ्यों का प्रशिक्षण देते हुए। इस अवसर पर फोन से सूचना मिली कि आचार्य महाप्रज्ञ ने डॉ. कच्छारा को "जैन आगम मनीषी" उपाधि से सम्मानित किया। डॉ. कच्छारा ने आ. श्री महाप्रज्ञजी के संघ को जैन धर्म के वैज्ञानिक तथ्यों को अंग्रेजी भाषा में प्रशिक्षण दिया है।(पाड़वा– 2008)।

आचार्य श्री कनकनन्दी के आशीर्वाद से, आचार्य श्री महाप्रज्ञ चातुर्मास व्यवस्था समिति एवं धर्म दर्शन सेवा संस्थान (आ. श्री कनकनन्दी द्वारा आशीर्वाद प्राप्त) के प्रायोजकत्व तथा विज्ञान समिति (उदयपुर) एवं जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय (लाडनूँ) के आयोजकत्व में और मोहन लाल सुखाडिया विश्वविद्यालय के सहयोग से आयोजित संगोष्ठी (उदयपुर–2007)।

आचार्य श्री कनकनन्दीजी तथा ससंघ इसरो के वैज्ञानिक राजमल जी को जैन धर्म के वैज्ञानिक तथ्य के प्रषिक्षण के साथ–साथ उनकी Jainism Unlocks the Mystery of the Univsrse पुस्तक का संशोधन करते हुए। (पाड़वा–2008) इस पुस्तक को उन्होंने अहमदाबाद में वैज्ञानिकों के समक्ष प्रस्तुत किया जिसे उन्हें सराहना मिली तथा कुन्दकुन्दज्ञानपीठ (इन्दौर) से पुरस्कार मिला।

सीमा प्रिन्टर्स, उदयपुर 9829582041